जैन-सिद्धान्त भास्कर

भाग २१ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XX No I

No-056851
Lo-42.13

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof Jyoti Prasad Jain M A., LL. B.
Sri. Kamata Prasad Jain, M.R.A.S., D.L.
Pt. K Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Shastri, Jyotishacharya.

Published by

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH (Bihar)

Annual Inland Rs. 3. Single Copy Rs. 1/8

JUNE, 1954.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व सम्बन्ध षाण्मासिक पत्र

भाग २१ जून १९५४ किरण १

सम्पादक :

प्रोफैसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्

प्रोफैसर ज्योति प्रसाद जैन एम. ए., एल. एल. बी.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

श्री पं० के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) ; प्रति का १॥)

विषय सूची

१ राजस्थान में जैन-देवी सच्चिका पूजन—श्रीयुत् रत्नचन्द्र अग्रवाल एम० ए० .... १

२ मध्यकालीन जैन साहित्य में मुद्रा सम्बन्धी सामग्री—श्रीयुत् रत्नचन्द्र अग्रवाल एम० ए० .... ६

३ जैन सम्राट् कुमारपाल सोलङ्की—श्रीयुत् प्रो० ज्योति प्रसाद जैन एम० ए०, एल-एल० बी०.... .... १७

४ शासन देवी अम्बिका और उनकी मान्यता का रहस्य—श्रीयुत् बाबू कामता प्रसाद जैन डी० एल०, एम० आर० ए० एस० २८

५ अथ मोहरम गुरालिख्यते, मतिचन्द्रिका ४१

६ हनसोगे—विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री ४७

७ सिद्धराज सोलङ्की का दत्तक पुत्र तथा सम्राट् कुमारपाल—श्रीयुत् प्रो० ज्योति प्रसाद जैन एम० ए०, एल-एल० बी०.... ५०

८ साहित्य-समीक्षा—

१ सर्वार्थसिद्धि (हिन्दी अनुवाद सहित).... .... ५९

२ कालिदास का भारत (द्वितीय भाग) ५९

३ धूप के धान ६०

४ ध्वनि और संगीत— ६१
नेमिचन्द्र शास्त्री

५ पहला कहानीकार—श्रीराम तिवारी बी० ए० (ऑनर्स).... ६१

श्रीजिनाय नमः

जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षण्मासिक पत्र

भाग २१ | जून, १९५४। आषाढ़, वीर नि० सं० २४८० | किरण १

राजस्थान में जैन-देवी सच्चिका पूजन

[लेखक—श्रीयुत् रत्नचन्द्र अग्रवाल, एम० ए०]

१ सचिया माता का सुविख्यात देवालयः—

जोधपुर नगर से लगभग ३९ मील दूर स्थित ओसियाँ[1] (प्राचीन उपकेश व ऊकेश) का 'सचियामाता का मन्दिर' एक ऊँची पहाड़ी पर निर्मित है। यह सचियामाता उसी देवालय के मध्यकालीन शिलालेखों की 'सच्चिका' व 'सच्चिका' ही है। मारवाड़ में 'सचिया' के इस पवित्र स्थान की बहुत मान्यता है तथा सैकड़ों मील से यात्री यहाँ अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने आते हैं। ओसवाल जैन बन्धु तो इस देवालय को बहुत महत्त्व प्रदान करते हैं। सचिया के उपासकों के विषय में यह कहा जाता है कि यदि वे ओसियाँ आवें तो माता के दर्शन तो अवश्य करें परन्तु दर्शनोपरान्त उन्हें एक भी रात्रि वहाँ नहीं ठहरना चाहिए। उन्हें यह भय रहता है कि वहाँ एक रात्रि भी रहने से कहीं देवी क्रुद्ध न हो जावे[2]।

२ जैन शिलालेखों में सच्चिकाः—

(१) सचियामाता के उपर्युक्त देवालय में स्वयं गर्भगृह के बाहर की ताकों में प्रमुख तीन ताकों में तो चामुण्डा, महिषासुरमर्दिनी तथा शीतला की मूर्तियाँ उत्कीर्ण

१ ग्राम से लगभग १ मील दूरी पर इसी नाम का रेलवे स्टेशन जोधपुर–फलोदी–पोकरन रेलवे लाइन पर स्थित है।

२ द्रष्टव्य–आर्केयॉलौजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, ऐनुवल रिपोर्ट, १९०८–९, पृ० १०९–११०

हैं। देवी के इस भवन के प्रमुख गर्भगृह के पीछे संवत् १२३४ चैत्रशुदि १० गुरुवार का एक शिलालेख उत्कीर्ण है, जिससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस देवगृह में चण्डिका, शीतला, सच्चिका, क्षेमंकरी[१] तथा क्षेत्रपाल की मूर्तियाँ स्थापित हुई थीं। शिलालेख का महत्त्वपूर्ण अंश[२] इस प्रकार है:—

"सच्चिकादेवि प्रासाद—कर्मणि चंडिका-शीतला-श्रीसच्चिकादेवी-क्षेमंकरी-श्री क्षेत्रपाल-प्रतिमाभिः सहितं जंघाघरं आत्मश्रेयार्थं कारितम्"। इसी लेख के पास प्रधान ताक की मूर्ति महिषमर्दिनी की है।

(२) इस वृत्त तथा उपर्युक्त ताकों की मूर्तियों में पूर्ण साम्यता प्रतीत होती है। सच्चिका का सम्बन्ध महिषासुरमर्दिनी, चण्डिका आदि तान्त्रिक देवियों से था। जैनधर्म के विशाल दृष्टिकोण के परिणाम स्वरूप तान्त्रिक विचारधारा के अन्तर्गत कतिपय देव-देवियों की अभिव्यक्ति चित्र एवं मूर्तिकला द्वारा सिद्ध हो चुकी है[३]। मारवाड़ राज्यान्तर्गत जूना नामक स्थान के संवत् १३५२ (=१२९५ ई०) के लेख[४] द्वारा यह ज्ञात होता है कि श्री आदिनाथ के प्राचीन देवालय में विघ्नमर्दन क्षेत्रपाल, चाउण्डराज..... आदि की मूर्तियाँ विद्यमान थीं। इतना ही नहीं ब्राह्मण तथा जैन मतावलम्बियों का तो बहुत प्रेम का व्यवहार नाडोल के संवत् १२२८ (=११६१ ई०) के लेख[५] द्वारा और भी स्पष्ट हो जाता है क्योंकि यहाँ लेख के प्रारंभ में ही ब्रह्मा—विष्णु तथा महेश की 'जिन' नाम से स्तुति की गई है अर्थात्—ओं स्वस्ति श्रियै भवन्तु वो देवाः ब्रह्मश्रीधरशङ्कराः सदा विरागवन्तो ये जिनजगति लोके विश्रुताः[६]।

(३) ओसियाँ के सचियामाता मन्दिर के एक अन्य लेख में भी सच्चिका देवी के पवित्र गृह का उल्लेख है। विक्रम संवत् १२३६ कार्त्तिक शुदि १ बुधवार का यह

१ वसन्तगढ़ (सिरोही, राजस्थान) से प्राप्त संवत् ६८२ (=६२५ ईसवी) के लेख में इस भूभाग में क्षेमार्या क्षेमंकरी के देवालय की विद्यमानता का बोध होता है।

२ पूर्णचन्द नाहड़ कृत 'जैन लेख संग्रह', भाग १, कलकत्ता, १९१८, पृष्ठ १९८, लेख संख्या ८०५।

३ जर्नल यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी, भाग २३, १९५०, पृ० २१८–२७; जर्नल इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरिएन्टल आर्ट, भाग १५, १९४७, पृ० ११४ –१७७; बी० सी० भट्टाचार्य कृत 'जैन आइकानोग्राफी १९३९, लाहौर, पृ० १२८–९, १७०–१, १८०–१, इत्यादि, डॉ० एच० गोएत्स, आर्ट एण्ड आर्की टैक्चर आफ बीकानेर स्टेट, १९५०, आक्सफोर्ड, पृ० ५०।

४ ऐपिग्राफिया इण्डिका, भाग ११, पृ० ५९—६०। ५ वही भाग ९, पृ० ६७–८।

६ द्रष्टव्य मेरा लेख, जर्नल इण्डियन म्यूजिम्स, भाग १०, १९५४—जोधपुर संग्रहालय की एक योगनारायण प्रतिमा पर जैन प्रभाव।

लेख इस प्रकार है:—"अद्येह श्री केल्हणदेव महाराज राज्ये·····तद्भुक्तौ श्री उपकेशीय श्री सच्चिकादेवि देवगृहे श्री राजमेवक·····धारावर्षेण सच्चिकादेवि भक्तिपरेण श्री सच्चिकादेवि गोष्ठिकान् भणित्वा·····श्री सच्चिकादेवि कोष्ठागारात् मुग मा १०। घृतकर्ष १ भोजकेभ्यो दिनं प्रति दातव्यः [नाहड़, उपर्युक्त, पृ० १९८, लेख संख्या ८०४]। इस लेख द्वारा सच्चिका देवी का ओसियाँ (उपकेश) नगर के साथ सम्बन्ध सुस्पष्ट है।

(४) लोद्रवा (जैसलमेर से लगभग १०–१२ मील) के प्राचीन पार्श्वनाथ मन्दिर में रक्खी हुई गणेशप्रतिमा की चरण चौकी पर वि० संवत् १३३७ (= १२८० ई०) के लेख[1] द्वारा भी ईसा की १३ वीं शताब्दि में सच्चिका पूजन पर प्रकाश पड़ता है। यहाँ यह बताया गया है कि इस देवी की मूर्ति अजमेर दुर्ग पर स्थापित हुई तथा पूजी गई:—"अजयमेरुदुर्गे गत्वा द्विपंचासत जिनबिम्बानि सच्चिकादेवि गणपति सहितानि कारितानि प्रतिष्ठितानि'[2]। जैन बन्धुओं द्वारा गणेशपूजन[3] भी सर्वज्ञात ही है।

३. सच्चिका देवी का स्वरूप:—

अब यह निर्धारित करना आवश्यक है कि जैन देवी सच्चिका का क्या स्वरूप था? ओसियाँ के शिलालेखों व सचिया माता के देवगृह की प्रधान ताकों द्वारा तो यह ज्ञात होता है कि सच्चिका तान्त्रिक देवी ही थी। इस दिशा में अधिक ज्ञान 'उपकेशगच्छ पट्टावली'[3] द्वारा प्राप्त है। यहां सच्चिका के भोजन, रौद्र एवं अहिंसात्मक पूर्व रूप इत्यादि के विषय में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। इस पट्टावलि में यह वर्णित है कि सच्चिका देवी प्रथम महिषासुरमर्दिनी रौद्र रूपा थी तथा श्री रत्नप्रभसूरि के प्रभाव से हिंसाभाव त्याग कर जैनधर्म में प्रविष्ट हुई। प्रारंभ में हिंस्र देवी होने के कारण यह जैन बन्धुओं द्वारा न पूजी जाती थी। रत्नप्रभसूरि के मुख से निकले हुए वाक्य के अनुसार तो "सच्चिका के देवभवन में नहीं जाना चाहिए क्योंकि यह देवी निर्दय हृदया है; अस्थिभञ्जन क्रिया द्वारा प्रसन्न होने वाली है; महिषादि जन्तुओं को खाने वाली है; इसके मन्दिर का फ़र्श रक्तरञ्जित रहता है···इत्यादि [अतः आचार्येण प्रोक्तः –भो यूयं श्राद्धा तेषां देवीनां निर्दयचित्ताया महिष–बोत्कटादिजीववधास्थिभंगशब्द श्रवण कुतुहल-

१ नाहड़, उपर्युक्त, भाग ३, पृ० १७२ लेख संख्या २५६५।

२ द्रष्टव्य भट्टाचार्य, उपर्युक्त, पृ० १८१–२।

३ पट्टावली समुच्चय, भाग १, वीरमगाम, १९३३, पृ० १८७ तथा हर्नले द्वारा अनूदित अंश, इण्डियन एण्टीक्वेरी, १८९०, भाग १९, पृ० २३७—२३८।

प्रियया अविरतायाः रक्ताँकितभूमितले आर्द्रचर्म्मवद्धवंदनमाले निष्ठुरजनसेवितं धर्म-ध्यानविद्यापके महावीभत्सरोद्रे श्री सच्चिकादेविगृहे गंतुं न बुध्यते]। भला सत्य एवं अहिंसा के परमोपासक जैनाचार्य इस प्रकार की देवी का पूजन क्यों कर करते ?

उक्त पट्टावलि में यह भी वर्णित है कि रत्नप्रभसूरि ने यह प्रयत्न किया कि लोग सच्चिका के मन्दिर में प्रवेश तक न करें परन्तु लोगों को सदैव यह भय बना रहता था कि वह घोररूपा कहीं उन्हें सकुटुम्ब ही न मार डाले [आचार्यैः वचः श्रुत्वा ते प्रोचुः—प्रमोयुक्तमेतत् परं रौद्रा देवी यदि छलिस्याम तदा सा कुटुम्बान् मारयति]। इसी पट्टावली के अगले संदर्भ में यह उल्लेख है कि रत्नप्रभसूरि के समक्ष प्रकट हुई तथा कुछ भक्ष्य पदार्थ मांगे। इस पर निरामिष आचार्य ने यथाप्राप्य मिष्टान्नादि भेंट किये परन्तु पशुबलि की इच्छुक उस देवी को वह सब स्वीकार न था। स्वयं रत्नप्रभसूरि कहने लगे कि "वह तो पशुबलि चाहती है जिसको भेंट करना मेरे लिये कठिन है [आचार्यैः प्रोक्तं —त्वया वधो याचितः स तु लातुं दातुं न बुध्यते]। तदनन्तर सच्चिका ने रौद्ररूप का त्याग कर जैनधर्म की दीक्षा ग्रहण की।

४ सच्चिका की एक महत्वपूर्ण पाषाण-प्रतिमाः—

उपकेशगच्छपट्टावलि द्वारा प्रस्तुत विवरण की पुष्टि तो जोधपुर संग्रहालय की एक खण्डित पाषाणप्रतिमा द्वारा हो जाती है। इस मूर्ति को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय इस लेख के लेखक को ही है ! जोधपुर संग्रहालय की सी मूर्ति अभी तक तो अन्यत्र कहीं नहीं मिली है—ऐसा कहने में संकोच नहीं है। सम्भव है भविष्य में इस आशय की प्रतिमाएँ प्रकाश में आवें। जोधपुर संग्रहालय की इस अज्ञात मूर्ति में देवी का ऊपर का भाग सर्वथा खण्डित एवं अविद्यमान है। केवल दोनों टांगें, तथा दोनों पैर विद्यमान हैं तथा टांगों पर धोती पहनी हुई है। टांगों के नीचे पड़ा हुआ महिष तथा उस पर वेग से झपटता हुआ सिंह सर्वथा स्पष्ट हैं। सिंह ने महिष की पूंछ को अपने मुख में पकड़ लिया है तथा वेदना के परिणामस्वरूप महिष की जिह्वा बाहर निकल आयी है। श्वेतसंगमरमर की बनी इस प्रतिमा के नीचे चौकी पर विक्रम संवत् १२३७ का एक लघुलेख उत्कीर्ण है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि महिषासुरमर्दिनी देवी का नाम सच्चिका भी था तथा इसकी प्रतिष्ठा एक गणिनि (जैन भिक्षुणियों के गण की अग्रणी) द्वारा सम्पन्न हुई थी। प्रस्तुत लेख में इस गणिनी के गुणकर्मशीलस्वभाव तथा गच्छ पर भी प्रकाश पड़ता है। संवत् १२३७ की यह कलाकृति अतीव महत्वपूर्ण है। इसकी चरणचौकी का शिलालेख इस प्रकार हैः—

(१) संवत् १२३७ फाल्गुन सुदि २ मंगलवारे
(२) श्रीमदूकेशगच्छीया सर्व्वदेवमहत्तरा (आशी
(३) त्) लोकविख्याता सत्यशीलक्षमा...स्या
(४) विनेयिका गणिनी चरणमत्या.....म्मला
(५) तेनेयं कारिता देवीसच्चिकास्ता..... यसे।
(६) .....॥ प्रति (ष्ठिता) श्रीकक्कु.....॥

यह मूर्ति मारवाड़ान्तर्गत जसवन्तपुरा परगने के ग्राम रेवाड़ा (व हरसवाड़ा) से प्राप्त हुई है। यही लेख जूना (मारवाड़) स्थित सिचिय ाय माता के मन्दिर में भी उत्कीर्ण है [द्रष्टव्य, पुरुषोत्तम प्रसाद गौड़ कृत 'प्राचीन शिलालेख संग्रह' जोधपुर, पृ० २]। ओसियाँ के वि० सं० १६५५ के लेख द्वारा भी स्पष्ट हो जाता है कि सच्चिका तथा चामुण्डा समानार्थक शब्द हैं। ["चामुण्डा को सिचियाय करी रत्नप्रभसुर जी ने" —अर्थात् रत्नप्रभसूरि जी ने चामुण्डा को सच्चिका रूप में परिणत किया था]। सम्भव है जोधपुर संग्रहालय वाली मूर्ति जूना के देवालय से ही रेवाड़ा पहुँची हो।

राजस्थान के इस भूभाग में ईसा की १२-१३ वीं शताब्दियों में सच्चिका-पूजन अतीव महत्वपूर्ण है तथा दो संस्कृतियों के समन्वय का द्योतक है। प्रस्तुत निबन्ध में प्रथम प्रयास द्वारा अल्प सामग्री को विद्वद्वर्ग के समक्ष समुपस्थित किया जा रहा है। आशा है शीघ्र ही अज्ञात एवं यत्र तत्र बिखरी पड़ी एतद्विषयक अन्य मूर्तियाँ प्रकाश में आवेंगी जिससे राजस्थान के इस प्रदेश में सच्चिकोपासना पर अधिक प्रकाश पड़ सके। डॉ० शाह ने मुझे बताया है कि कतिपय जैन देवालयों में अभी भी महिषमर्दिनी की पूजा होती है। यह सब वास्तव में महिषमर्दिनी के सच्चिका रूप में अङ्गीकार भाव के परिणाम स्वरूप ही सम्भव हो सका है।

मध्यकालीन जैन साहित्य में मुद्रा सम्बन्धी सामग्री

[श्रीयुत् रत्नचन्द्र अग्रवाल, एम. ए.]

जैन साहित्य के सम्यक् अध्ययन द्वारा मुद्रा के क्षेत्र में पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है। जैन साहित्य में तो बहुत सी विदेशी [१] मुद्राओं का भी उल्लेख उपलब्ध है। यथा—पणिएक, पायङ्क, सतेरक, सामरक, खत्तपक, दीनार, केवडिका अथवा केतर..... इत्यादि। इनमें कुछ तो ऐसे शब्द हैं जो जैन ग्रन्थों द्वारा ही प्रकाश में आ सके हैं। सम्भव है भविष्य में अन्य बहुमूल्य सामग्री हमारे वर्तमान ज्ञान में अत्यधिक वृद्धि कर सके। प्रस्तुत लेख में ६ वीं शताब्दि तथा उसके उपरान्त के कुछ ग्रन्थों द्वारा ज्ञात सामग्री का संक्षेप में ही विवेचन किया जायगा।

१. सतेर

ईसा पूर्व की तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दि के उपरान्त यूनानी सम्पर्क के प्रभाव से तद्देशीय मुद्रा का प्रचार भारतवर्ष में हुआ तथा ग्रीक स्वर्णमुद्रा स्टेटर का उल्लेख तक्षशिला से प्राप्त खरोष्ठी लिपि के लेखों में उपलब्ध है[२]। यही शब्द छठी शताब्दि के एक अप्रकाशित जैन ग्रन्थ में 'सतेरक' रूप में उपलब्ध है यथाः— सतेरको त्ति तं सव्वं पुण्णाम सममादिसे [३]। ईसा की ६ वीं शताब्दि के जैनाचार्य महावीर ने 'गणितसार संग्रह' में सतेर का उल्लेख करते हुए यह दर्शाया है कि १ सतेर =२ दीनार[४] अर्थात्:—

संकेत चिह्नः—

जर्नल = जर्नल न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, बम्बई।

शोध = शोधपत्रिका, उदयपुर।

ना० प्र० = नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५५, अंक ४, संवत् २००७, पृ० २६५-८०।

पृ० = पृष्ठ संख्या।

वही = जिसका ठीक ऊपर उल्लेख किया गया है।

उपर्युक्त = जिसका पहले उल्लेख हो चुका है।

१ द्रष्टव्य, ना० प्र०, पृ० २७५ तथा आगे; जर्नल, भाग १२ का द्वितीयाङ्क, पृ० १६८ तथा आगे; जर्नल, भाग १४, पृ० १०७–११०; जगदीशचन्द्र जैन कृत लाइफ़ इन ऐन्शैयट इण्डिया ऐज़ डिपिक्टेड इन जैन कैनन्ज़, बम्बई, १९४७, पृ० १२० तथा जर्नल यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी, १८, पृ० ६६ तथा आगे। इस क्षेत्र में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन तथा डॉ० उमाकान्त शाह के लेख विशेषरूपेण उपयोगी हैं।

२ द्रष्टव्य मेरा लेख जर्नल, १५, पृ० १५३–४।

३ वही, १४, पृ० ११०; अङ्गविज्जा, पुण्णामपटल, अध्याय ९।

४ द्रष्टव्य मेरे लेख, जर्नल १५, पृ० १५३-४; वही १४, पृ० १०३-४।

द्रक्षूणो भागषट्केन दीनारोऽस्माद्विसंगुणः।
द्वौ दीनारौ सतेरं स्यात् प्राहुर्लोहेऽत्र सूरयः [१] ॥

यही भाव यशोमित्र कृत अभिधर्मकोशव्याख्या (टोक्यो संस्करण, भाग २, १९३२, पृ० ३६८) में भी व्यक्त किया गया है :—

दीनार सतेरवच्च। यथापूर्वको दीनारो द्वितीयेन सह
सतेरो भवति तथा हि लोके एक दीनार मूल्येन
द्वितीयं दीनारं दीनारमूल्यं वा तेन पूर्वकेण दीनार-
मूल्येण सहाधिकमपेक्ष्य कश्चित् वक्ता भवेत्।
दीनार सतेरो मया लब्ध इति दीनारद्वयं मया लब्धमित्यर्थः।

प्राचीन शक 'सतेर', अर्मेनियन 'सतेर' सौग्डियन 'स्तिर्', कूचियन 'सतेर', प्राचीन खोतानी 'सतीर'.....इत्यादि सब ग्रीक स्टेटर से ही निकले हैं [२]। उपर्युक्त गणितसारसंग्रह की एक अन्य प्रति (गवर्नमेन्ट ओरिएण्टल लाइब्रेरी, मद्रास) में 'सतेरारव्यं' पंक्ति भी सतेर शब्द के प्रयोग पर प्रकाश डालती है।

२ द्रम्म

यूनानी (ग्रीक) 'ड्रैक्म' से ही संस्कृत व जैन साहित्य का 'द्रम्म' (अथवा 'दम्म') बना है। इसीका अपभ्रंश रूप दाम (मूल्य तथा अकबर के काल में रुपये का चालीसवां भाग) है तथा रूपान्तर दमड़ी, दमड़े, श्रमड़.....इत्यादि [३]। जैन ग्रन्थ 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' (सिंघी जैन ग्रन्थमाला, १९३६, कलकत्ता) में दाममूड़ा (पृ० ५३ नोट) तथा 'द्रम्ममूड़ा' [४] (पृ० ५२) रूप भी उपलब्ध हैं। इसी ग्रन्थ के पृ० ८० पर वर्णित 'मूढ़कशत १८' की पादटिप्पणी में यह उल्लेख मिलता है कि जगडु सेठ ने दुर्भिक्ष के समय पर निम्न प्रकार से दान दिया, अर्थात् ८००० मूड तो वीसलदेव के लिये; १६ हजार हम्मीर के लिये तथा २१ हजार सुलतान के लिये [अष्टयमूड-सहसा वीसलदेवस्स सोल हम्मीरा। एक वीसा सुलताणा पयदिन्ना जगडु दुकाले]। मूड़ या मूढक की व्याख्या अभी तक अस्पष्ट है। आशा है विद्वद्वर्ग इस ओर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न

१ श्री रङ्गाचार्य द्वारा सम्पादित गणितसारसंग्रह, १९१२, मद्रास, अध्याय १, श्लोक ४३।

२ बुलेटिन ऑफ स्कूल ऑफ ओरियण्टल एण्ड ऐफ्रिकन स्टडीज़, लन्दन विश्वविद्यालय, १३, पृ० १२८-६; एम० एन० ढल्ला कृत ज़ोरोस्ट्रियन सिविलिज़ेशन, न्यूयार्क, १९२२, पृ० ३५७; एण्टीक्विटीज़ ऑफ़ इण्डिया (बार्नेट कृत), १९१३, लन्दन, पृ० २०७; मेरा लेख, गंगानाथ झा रिसर्च सोसाइटी, प्रयाग, १०, पृ० १३४-६; जी० आर० केये द्वारा सम्पादित, दि० बख्शाली मैन्यूस्क्रिप्ट, १९२७, कलकत्ता, भाग १-२, पृ० १३०, ६४, ६७-८ इत्यादि।

३ द्रष्टव्य मेरा लेख शोधांक, दिसम्बर १९५३, पृ० २-३। 'दम्म' रूप के लिये द्रष्टव्य अर्द्धमागधी-कोश पाइअ-सद्द-महण्णवो', कलकत्ता।

४ पृ० ५२ पर 'द्रम्ममूड़ा' भी तथा पृ० १३२ पर 'सामुद्रमा'; पृ० ६५ पर 'क्रोडिद्राम दण्ड'.....इत्यादि।

करेगा। इतना तो निश्चित ही है कि ये शब्द तत्कालीन मुद्राविशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं [द्रष्टव्य मेरा लेख, शोध, दिसम्बर १९५३, पृ० ८]।

३. भीमप्रिय द्रम्म

मारवाड़ के एक लेख (विक्रमसंवत् १३५२) में भीमप्रिय द्रम्मों से सम्बन्धित 'भीमप्रियदशार्वि-शोपक'[१] का उल्लेख हुआ है। इस दिशा में पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में भी कुछ उल्लेख उपलब्ध हैं यथा:—

(अ) भीम प्री० (—पृ० ६५)
(ब) भीम प्री द्राम ९८ लक्ष (—पृ० ३३)
(ज) भीमपुरी द्राम (—पृ० ३३ फुट नोट ६)
(द) भीम प्री (य) द्रम्म लक्ष (—पृ० ३४)
(य) राजमहाराज श्री (भी) मसेन द्रम्म लक्षत्रय दाने (—पृ० ६५)।

सम्भव है कि महाराजा भीमसेन द्वारा चलाई गई मुद्रा को ही भीमप्रियद्रम्म नाम से सम्बोधित किया जाने लगा हो। ठक्कुर फेरुकृत 'द्रव्यपरीक्षा' ग्रन्थ में 'भीमपुरी' मुद्रा का उल्लेख आया है [जर्नल ८, भाग २, पृ० ६५]

४. लोह द्रम्म

पुरातन प्रबन्ध संग्रह के पृ० ६५ पर एक स्थान पर 'लोहे के बने' द्रम्मों का भी उल्लेख हुआ है अर्थात् —१४ लोहडिआ अथवा इका आगला द्राम। इसी ग्रन्थ के पृ० १५३ पर 'लोहटिक' की 'लोहडिय द्रम्म" कह कर परिभाषा की है। श्रीधर के 'गणितसार' की टीका में द्रामि २० लोहडीआ,[२] द्वारा सम्भवतः इसी वर्ग के द्रम्मों का बोधक प्रतीत होता है।

५. निष्क

'प्रबन्धचिन्तामणि' (सिंघी जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, पृ० ७ फुटनोट ८) में एक प्राचीन भारतीय मुद्रा 'निष्क'[३] का वर्णन किया गया है:— निष्काणां परितोषके मम सदाकोटिर्ममाज्ञा कोशाधीश ..... इत्यादि। स्कन्द पुराण के श्रीमालमहात्म्य में भी एक लाख निष्कों के दान का वर्णन है। श्री भास्कराचार्य कृत 'लीलावती' नामक गणित ग्रन्थ के प्रारम्भ [अध्याय १, श्लोक २] में ही यह बताया गया है कि १६ द्रम्मों का १ निष्क होता है:—

१ ऐपिग्राफ़िया इण्डिया, ११, पृ० ५९-६०; पूर्णचन्द नाहड़ कृत जैनलेख संग्रह, १, पृ० २४४।

२ द्रष्टव्य जर्नल, ८, १९४६, पृ० १४० तथा आगे। द्रम्मों का उल्लेख प्रबन्धचिन्तामणि, युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि, प्रबन्धकोश..... ...इत्यादि अन्य जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है। पुरातन-प्रबन्धसंग्रह, (पृ० ५०) में केवल 'लोहटिक' का भी उल्लेख है यथा—लोहटिकं विना यामि।

३ निष्क के लिये द्रष्टव्य जर्नल १५, पृ० ११ तथा आगे; वही, १२, पृ० १९१ तथा आगे।

वराटकानां दशकद्वयं यत्सा काकिणी, ताश्च पणश्चतस्त्रः।
ते षोडशद्रम्म इहावगम्यो, द्रम्मैस्तथाषोडशभिश्च निष्कः॥

यह निष्क एक स्वर्णमुद्रा ही थी।

६. टङ्क

संस्कृत साहित्य में सर्वप्रचलित शब्द टङ्क से ही आधुनिक हिन्दी शब्द 'टका' बना है। जैन ग्रन्थ प्रबन्धकोश (सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ० २६) में सोने के बने हुए 'सौवर्णटङ्कों' का उल्लेख हुआ है अर्थात्—षपादलक्षेण सौवर्णटङ्कैर्निष्पन्न इति। 'श्राद्धतिकमण सूत्रवृत्ति' (१२) तथा 'सुपासनाहचरिअ' (५१३) में भी टंक उपलब्ध है तथा 'प्राकृतपिङ्गल' के अनुसार एक टङ्क परिमाण में ४ माषे के बराबर होता है[1]। पुरातनप्रबन्धसंग्रह (पृ० १२३) में वर्णित पंक्ति 'उंदरटंका २०' भी महत्वपूर्ण है। इस प्रकार के टंकों के विषय में विशेष विवेचन की परमावश्यकता है।

७. गदहिया मुद्रा

डॉ० भण्डारकर[2] ने यह विचार प्रगट किया था कि द्रम्म शब्द रजतमुद्रा का सूचक है तथा 'गधैया-का-पैसा'[3] ताम्रमुद्रा का। इस दिशा में जैनग्रन्थ उपकेशगच्छप्रबन्धावलि द्वारा यह प्रतीत होता है कि यह मुद्रा भीनमाल (प्राचीन श्रीमाल, मारवाड़) से सम्बन्धित थी तथा चांदी की बनी थी। यहां इसका नाम 'गदहिया मुद्रा'[4] मिलता है अर्थात्:— तत्पट्टे संवत् ११०८ वर्षे .....ततो गुरुपदेशेन ज्वलितानि छगणानि रुप्यमयानि भवन्ति। ततो तेन रुप्येन गदहिया मुद्रा पातिता .....सवालक्ष मुद्रिका दत्ता। ततो गर्दभयानि भारयत्वा पत्तने जगाम..... तद्धनं देशे सप्तक्षेत्रे व्ययो कृतः।

८. विंशोपक

कुछ विद्वानों का विचार है कि द्रम्म के बीसवें भाग का नाम विंशोपक है [एपिग्राफिया इण्डिका, ११ पृ० ४१; वही, १, पृ० १६६; वही, १०, पृ० १६ नोट ३] परन्तु डॉ० भण्डारकर इस मत के पक्ष में नहीं हैं (लैक्चर्ज....., पृ० १८८-६)। १४ वीं शताब्दि के ग्रन्थ गणितसार की टीका में विंशोपक का पर्यायवाची 'वीसा' था जिसे एक ताम्रमुद्रा कहा गया है [जर्नल, ८, पृ० १४३]। द्रम्मों के साथ सम्बन्धित कई प्रकार के विंशोपकों का शिलालेखों में भी पर्याप्त उल्लेख मिलता है।

---

१ पाइअसद्दमहण्णवो, भाग २, पृ० ४५९।

२ लैक्चर्ज ऑन ऐन्शैयट इण्डियन न्यूमिस्मैटिक्स, १९२१, कलकत्ता, पृ० २०७।

३ श्री रैप्सन ई० जे० (इण्डियन कौएन्ज, १८६८, स्ट्रैसबर्ग, पृ० ३४) ने तो इस मुद्रा को 'षड्बोहिकद्रम्मों' से सम्बन्धित किया है। द्रष्टव्य जर्नल, १२, पृ० २०२।

४ श्री पट्टावलिसमुच्चयः, भाग १, १६३३, वीरमगाम, पृ० १९१।

जैन ग्रन्थों में भी विंशोपक का प्रयोग उपलब्ध है यथाः—(१) पञ्चविंशोपकानर्जयित्वा प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० ६६); (२) विंशोपक[1] (पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० १३२) इत्यादि। प्राकृत[2] ग्रन्थों का विसोपग (व विसोवग) भी विंशोपक से ही निकला है।

६. नाणक

मृच्छकटिक (अंक १, दृश्य १) तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति में 'नाणक' मुद्रा का उल्लेख मिलता है। मृच्छकटिक के अनुसार ये कुषाणकालीन सिक्के थे[3] [डॉ० अग्रवाल का अध्यक्षीय भाषण], कुषाणों की मुद्राओं पर विदेशी देवी नाना (Nana) का प्रदर्शन भी उपलब्ध है। डॉ० रायचौधरी[4] के उल्लेखानुसार 'नाणक' मुद्रा सम्भवतः इसी 'नाना' देवी के नाम पर चली हो। कालान्तर में तो नाणक शब्द मुद्राविशेष के अर्थ में न प्रयुक्त हो, साधारण मुद्रा (अर्थात् सिक्का) के अर्थ में ही प्रयोग में आने लगा। मराठी, गुजराती तथा राजस्थानी लोकोक्तियों द्वारा यह शब्द आजतक सुरक्षित है। एक राजस्थानी लोकोक्ति में कहा गया है कि पैसे रुपये द्वारा काणे व्यक्ति का भी विवाह सम्भाव्य है अर्थात् "नकद नाणों बींद परणीजे काणों"। जैन साहित्य में नाणक के कुछ अपभ्रंशरूप उपलब्ध हैं यथाः—

(१) णाणं (अंगविज्जाग्रन्थ-उपर्युक्त) यथाः—तधोणाणं च मासको।

(२) णाणक (अभिधानराजेन्द्र, जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम; पाइअसद्द महण्णवो, भाग २, पृ० ४७७)।

कुछ जैनग्रन्थों में तो 'नाणक' शब्द पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। यथाः—

(१) रुप्यनाणक (प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० ७७)—रजतमुद्रा का निर्देशक है।

(२) वृहत्कल्पभाष्य की टीका (श्लोक १६६६) करते हुए विक्रम संवत् १३३२ के जैन विद्वान् श्री क्षेमकीर्त्ति ने देशी-विदेशी मुद्राओं (नाणक) का विशद विवेचन किया है यथाः[5] —

१ इसी पृष्ठ पर 'सामु द्रमा ३' पंक्ति कुछ अस्पष्ट प्रतीत होती है।

२ पाइअसद्दमहण्णवो, ४, पृ० १००७; द्रष्टव्य मेरा लेख, शोध, दिसम्बर १६५३, पृ० ५-७; हथुण्डी (मारवाड़) के वि० सं० १०५३ वाले लेख में प्रयुक्त विंशोपक शब्द परिमाण-सूचक भी है [जैनलेखसंग्रह, श्रीपूर्णचन्दनाहड़कृत, भाग १, पृ० २३७]।

३ जर्नल, १२, पृ० १६८। द्रष्टव्य लैक्चर्ज....., पृ० १६१;

४ पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐन्शैण्ट इण्डिया, कलकत्ता, ५ संस्करण, पृ० ४७५ फुटनोट ४

५ जर्नल १४, पृ० १०६; वृहत्कल्पभाष्य, भाग २, पृ० ५७३—श्री पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित। यहाँ पर क्षेमकीर्ति ने प्रत्येक नाणक का विशेष नाम, प्रचलन क्षेत्र तथा उसकी धातु का स्पष्ट उल्लेख किया है।

श्री बैजनाथपुरी का यह विचार है कि कुषाणमुद्रा पर अंकित 'नाना' को भारतीय अम्बा स्वीकार करना चाहिए (इण्डियन कल्चर, कलकत्ता, भाग ७, नं० ४, पृ० ४६२-३)।

'कपर्दकादयो मार्गयित्वा तस्य दीयन्ते। ताम्रमयं वा नाणकं यत् व्यवह्रियते, यथा दक्षिणापथे काकिणी। रूपमयं वा नाणकं भवति यथा भिल्लमाले द्रम्मः। पीतं नाम सुवर्णं तन्मयं वा नाणकं भवति, यथा--पूर्वदेशे दीनारः। केवडिका नाम यथा तत्रैव पूर्वदेशे केतराभिधानो नाणक-विशेषः"।

(३) कपर्दका मालवदेशीय नाणकम् (पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० २१)।

इस प्रकार निम्नमुद्राओं का बोध होता है:—

(अ) ताम्रमुद्रा, काकिणी—दक्षिणापथ की;

(ब) रजतमुद्रा, द्रम्म—भिल्लमाल की;

(ज) सुवर्णमुद्रा, दीनार—पूर्व देश की;

(द) केवडिका अथवा केतर—पूर्व देश की;

(य) कपर्दक—मालव देश की।

१०. केवडिका, केतर अथवा केदार

पूर्व देश में प्रचलित 'केवडिका' अथवा 'केतर' नामाभिधेय नाणक विशेष का ऊपर उल्लेख किया गया है। 'रूप्य' शब्द की व्याख्या करते हुए स्वयं काशिकाकार ने 'केदार' मुद्रा का उल्लेख किया है यथा—"आर्हतं रूपमस्य रूप्यो दीनारः, रूप्यः केदारः, रूप्यं कार्षापणम्"। जैन साहित्य का 'केतर' तथा काशिका का 'केदार' पर्यायवाची प्रतीत होते हैं[1]। यह मुद्रा 'किदार-कुषाण' नामक विदेशी राजाओं द्वारा चलाई गई थी। ऐसे सिक्के पर्याप्तमात्रा में मिले भी हैं जिन पर 'किदार' शब्द अङ्कित हैं[2]। यह स्मरण रखना आवश्यक होगा कि केतर मुद्रा गुप्तकाल में प्रचलित थी तथा इसे आर्हतमुद्रा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार दीनार के विषय में काशिकाकार की पूर्वोक्त पंक्ति ठीक नहीं जंचती [जर्नल, १५, पृ० ३८]।

प्रादेशिक मुद्रा सम्बन्धी अवशिष्ट सामग्री

दक्षिणापथ, मालवा, पूर्वदेश, भीनमाल (मारवाड़)·····इत्यादि की मुद्रा पर प्रकाश डाला जा चुका है। उसी टीकाकार (क्षेमकीर्ति) ने बृहत्कल्पभाष्य के कुछ श्लोकों (३८६१-२) की टीका करते हुए लिखा है कि:—

"द्वीपं नाम सुराष्ट्राया दक्षिणस्यां दिशि समुद्रमवगाह्य यद्वर्तते तदीयौ द्वौ साभरकौ रूपकौ स उत्तरापथे एको रूपको भवति। द्वौ च उत्तरापथरूपकौ पाटलिपुत्रक एको रूपको भवति

१ जर्नल, १२, पृ० १६६; वही १४, पृ० १०६; लैक्चर्ज·····, पृ० १३३; जर्नल १५, पृ० ३७-८; शाह, जर्नल एम० एस यूनि० ओरिएण्टल इन्स्टीटयूट, बड़ौदा, मार्च १९५४, पृ० ५८ फुटनोट १९।

२ हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, १६५३, पृ० ५४ फुट नोट ३; द न्यू हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पीपल, भाग ६, १६४६, लाहौर, पृ० २३; लैक्चर्ज·····पृ० २०५।

॥ ३८६१ ॥ दक्षिणापथौ रूपकौ काञ्चीपुर्यां द्रविड़विषय प्रतिबद्धया एकः नेलकः रूपको भवति। सः काञ्चीपुरी रूपको द्विगुणितः सन् कुसुमपुरनगरसत्को एको रूपो भवति। कुसुमपुरं पाटलिपुत्रमभिधीयते"[1] । यहाँ पर कुछ अवशिष्ट मुद्राओं का पारस्परिक सम्बन्ध प्रस्तुत किया गया है तथा ये सब चाँदी के ही सिक्के हैं—

२ साभरक रूपक=१ उत्तरापथ रूपक।

२ उत्तरापथरूपक=१ पाटलिपुत्र (या कुसुमपुर) रूपक।

२ दक्षिणापथरूपक=१ नेलक जो द्रविड़ राज्यान्तर्गत काञ्चीपुरी में प्रचलित था।

२ नेलक=१ पाटलिपुत्र (या कुसुमपुर) रूपक।

उल्लिखित वृत्त से यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रदेशों की मुद्रा का आपस में घना सम्बन्ध था तथा एक दूसरे के मूल्य एवं अनुपात से परिचय का भाव सर्वथा विद्यमान था। यहाँ यह कहना कठिन है कि उत्तरापथ तथा पाटलिपुत्र के रूपक किस प्रकार के थे तथा उनका क्या क्या परिमाण था। सम्भव है भावी खोजों द्वारा इस दिशा में कुछ प्रकाश पड़ सके।

साभरक द्वीप की स्थिति सुराष्ट्र के दक्षिण में थी तथा वहां की मुद्रा का भी उत्तरापथ की मुद्रा से सम्बन्ध भली भांति ज्ञात था। ११६० ईसवी के प्रवचनसारोद्धार[2] ग्रन्थ की टीका करते हुए सिद्धसेन ने यह भी दर्शाया है कि सुराष्ट्र तथा साभरक द्वीप के मध्य केवल १ योजन का अन्तर था [द्वीपश्च यः सुराष्ट्रामण्डले दक्षिणस्यां दिशि योजनमात्रं समुद्रमवगाह्य तिष्ठति सोऽत्र गृह्यते]। डॉ० मोतीचन्द्र के विचार में साभरक-रूपक पूर्व मुस्लिम युग के 'सैबिअन' [Sabean] सिक्के ही हैं[3] । 'पाइअसद्दमहण्णवो' के सम्पादक के अनुसार (भाग ४, पृ० १११४) तो १ साभरक सिक्का = १ रुपया व सोलह आना।

भीनमाल की मुद्रा

बृहत्कल्पभाष्य टीका में वर्णित "रूपमयं वा नाणकं भवति यथा मिल्लमाले द्रम्मः" का उल्लेख किया गया है। यही उल्लेख निशीथचूर्णि (पृ० ६१६) में भी उपलब्ध है[4] । अतः यहां पर यह स्पष्ट है कि भीनमाल (मारवाड़) की मुद्रा चांदी की बनी हुई थी तथा इसे "श्रीमालीय द्रम्म" या "पारौपथ द्रम्म" नाम से सम्बोधित किया जाता था। इस दिशा में 'लेखपद्धति' नामक ग्रन्थ द्वारा

१ जर्नल, १४, पृ० १०६; बृहत्कल्पभाष्य, उपर्युक्त, भाग ४, पृ० १०६६।

२ जर्नल, १४, पृ० ११०; पाइअसद्दमहण्णवो, ४, पृ० १११४।

३ जर्नल, १४, पृ० ११०, फुटनोट २; वही, १२, पृ० २००-१; जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ....., उपर्युक्त पृ० २८१, १२०।

४ जर्नल, १२, पृ० २०१-२ [—डॉ० अग्रवाल का भाषण]।

पर्याप्त सामग्री उपस्थित की गई है अर्थात् उस समय के उधार-पत्रों में निम्न पंक्तियों का वर्णन विशेषाकर्षक है:—

अ (१) श्री श्रीमालीयखरटङ्क शालाहत त्रिःपरीक्षित हट्ट व्यवहार जीर्णविश्वमल्ल[1] प्रिय द्र० [पृ० २०]

(२) श्रीश्रीमालीयखरटङ्कशालाहत त्रिःपरीक्षित हट्टव्यवहारिक्यप्रचरत् श्रेष्ठद्विवल्लक्य वीसल-प्रिय द्र० [पृ० ४२]

ब (१) श्रीश्रीमालीयखरटङ्क शालाहत त्रिःपरीक्षितहट्टव्यवहारिक्य प्रचलित श्रेष्ठश्रीमत्पारौपथ रौक्य गृहीत द्र० [पृ० ३४]

(२) श्रीश्रीमालीयखरटङ्क शालाहत त्रिःपरीक्षित हट्टव्यवहारिक्य प्रचरत् श्रेष्ठश्रीमत्पारु-पथकगृहीत द्रम्म [पृ० ४३]

श्री दलाल (पृ० ११४, ११८) का यह विचार है कि "पारौपथ (व पारूपथक) सिक्के व्यक्ति विशेषों के नाम पर सम्बोधित हुए हैं यथा बाबाशाही, महम्मुदी"। अभी यह कहना कठिन है कि इनका यह नाम कैसे पड़ा। इतना तो निश्चित है (उपर्युक्त उल्लेख द्वारा) कि ये सब सिक्के श्रीमाल नगर की टंकशाला (टकसाल) में तीन बार परखे गये; बिना मिलावट के तथा रोकड़ लिये हुए थे। यहां पर इस वर्ग के लिये 'आहत' विशेषण प्रयोग में आया है। गत वर्ष मुझे स्वयं भीनमाल नगर में पुरातत्त्व सम्बन्धी खनन [Archaeological Excavations] करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था परन्तु एक भी मध्यकालीन मुद्रा की प्राप्ति न हो सकी। श्रीमाल नगर तो एक स्वतन्त्र टकसाल थी तथा इस प्रदेश में खनन द्वारा इस वर्ग के सिक्कों की प्राप्ति की पूर्णाशा थी। इस दिशा में श्रीमाल की प्राचीन मुद्रा की सर्वदा प्रतीक्षा बनी रहेगी। अभी तक भीनमाल नगर से चांदी के बने गधैया सिक्कों की ही और वह भी अल्प संख्या में प्राप्ति ज्ञात है।

कोंकण देश के शक संवत् ११८२ के लेख में पोरुत्थ;[2] अपरादित्य के लेख[3] में (शक संवत् ११०६) पोरुथि द्र, पारुत्थ द्र, पारुथि व पारुत्थि ..."इत्यादि का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। श्री एलैक्ज़ैण्डर किंड तो इन्हें खुरासनी व पार्थियन मुद्रा से सम्बन्धित करने का प्रयत्न करते हैं[4]। उनका विचार है कि ये 'तातरिय व तहिरियेह व खुरासनी दिरहम' ही हैं।

---

१ जर्नल, १२, पृ० २०२। इन द्विवल्लक द्रम्मों में २ वाल (=६ रत्ति) का खोट मिला होता था [लेखपद्धति, सी० डी० दलाल द्वारा सम्पादित, १६२५, बड़ौदा, पृ० ११८]; युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि में इन्हें केवल 'द्विवल्लक द्रम्म' नाम से सम्बोधित किया गया है [जर्नल, १२, पृ० २०२]।

२ ऐपिग्राफिया इण्डिका, २३, पृ० २८०।

३ जर्नल बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना, भाग २६, अंक ४, पृ० २११, २१३, २१५; इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, २०, १६४४, पृ० ६६।

४ गज़ेटियर बॉम्बे प्रौविन्स, १८६६, भाग १, खण्ड २, पृ० २०, पृ० २१ नोट ६; मेरा लेख, शोध, दिसम्बर १६५३, पृ० ८-६।

उपर्युक्त द्रम्मों के विषय में जैन साहित्य द्वारा पर्याप्त सामग्री उपस्थित की गई है अर्थात्:—

(१) मालवा के परमार नरवर्मन (१०९७–१११९ ईसवी) ने, जिनवल्लभ सूरि से प्रसन्न हो, उन्हें ३ ग्राम या ३००,००० पारुत्थ द्रम्म लेने को कहा परन्तु जिनवल्लभसूरि ने दोनों को ही ठुकरा दिया। इसके विपरीत उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि नरवर्मन् महोदय चित्तौड़ की चुँगी के नाके (Customs House) से इन दो खरतर मन्दिरों के निमित्त प्रतिदिन दो पारुत्थ-द्रम्मों के दान की व्यवस्था कर दें तो उत्तम हो[1]।

(२) पुरातनप्रबन्ध संग्रह में इन द्रम्मों के भिन्न २ रूपों का उल्लेख किया गया है यथाः—

पाडू (र) थक या पारूथक (पृ० ५३), पारुथक[2] (पृ० १२८), पारूथा[3] (पृ० ७८)···· इत्यादि। इतना ही नहीं यहां यह भी बताया गया है कि १ पारूथक द्रम्म=८ साधारण द्रम्मों के [पृ० ५३]:—सुरत्राणेन लक्ष ३६ द्रम्माणां याचिता। वापडेनोक्तम् वयं द्रम्मान् न जानीमः। पाडू (र) थकान् दास्यामः। पार्श्वस्थैरुक्तम्—देव ! मन्यताम्। एकस्मिन् पारूथकेऽष्टौ द्रम्मा भवन्ति।

जालोर के राव उदय सिंह के मंत्री द्वारा व्यक्त यह उक्ति आश्चर्यजनक प्रतीत होती है कि "हम द्रम्मों को नहीं जानते" [वयं द्रम्मान् न जानीमः]; अपितु उन्होंने पारूथक द्रम्मों के प्रति ही जानकारी प्रकट की। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि जालोर–भीनमाल के क्षेत्र में ही पारूथक द्रम्मों का प्रचार था यद्यपि राजकीय सभासद इन द्रम्मों का साधारण द्रम्मों के साथ सम्बन्ध से पूर्णतया परिचित ही थे। उपर्युक्त लेखों से भी यह विदित होता है कि ये द्रम्म कोंकण तथा मालव आदि प्रदेशों तक प्रचलित थे। इस स्थिति में यह भी कहना कठिन है कि यह मुद्रा भीनमाल–जालोर (वर्तमान जालोर ज़िला) तक ही सीमित थी। इस दिशा में विशेषानुसन्धान की आवश्यकता है।

दीनार अथवा दीणार

रोम देश की मुद्रा 'डिनेरियस' (Denarius) का जैन साहित्य में प्रयोग प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। यहां इसके भिन्न २ रूप (अर्थात् दीणार, दीनार) मिलते हैं। उपर्युक्त अङ्गविज्जा (छठी शताब्दि ई०) ग्रन्थ में वर्णित 'दीणार[4] मासक' (=दीनारमाषक) तो तृतीय शताब्दि ई० के नागार्जुनी–कोण्डा के लेख में वर्णित 'दीनारि-मासक'[5] ही प्रतीत होता है। महावीराचार्य के गणितसारसङ्ग्रह ग्रन्थ में एक सतेर का दो दीनारों के बराबर होने का उल्लेख ऊपर किया जा

१ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १९५०, भाग २६, पृ० २२४, डा० अग्रवाल (जर्नल, पृ० २०१–२) ने इन द्रम्मों का पाठ "पारूथ" द्रम्म किया है तथा खरतरगच्छपट्टावलि की तिथि १०१०–१३२६ ईसवी निर्धारित की है।

२ अर्थात्—२८ लक्षपारुथकद्रम्मान्।

३ अर्थात्—पारुथाद्रम्माश्चतुर्विंशतिसहस्रसंख्यका।

चुका है[1] । क्षेमकीर्त्ति की बृहत्कल्पभाष्यटीका (श्लोक १६६६) के अनुसार दीनार नामक स्वर्ण-मुद्रा पूर्वदेश में प्रचलित थी:—पीतं नाम सुवर्णं तन्मयं वा नाणकं भवति यथा पूर्वं देशे दीनारः । श्री भद्रबाहु कृत कल्पसूत्र[2] (भावनगर संस्करण, १६१५, द्वितीयक्षण, संख्या ६३) में दीणार रूप उपलब्ध है । इस मुद्रा का उल्लेख पउमचरिय[3] तथा बृहत्कथाकोश[4] में भी किया गया है। संस्कृत व बौद्धसाहित्य तथा भारतीय शिलालेखों में भी दीनार सम्बन्धी सामग्री भरी पड़ी है ।

(१) लगभग ७ वीं शताब्दि में रचित 'निशीथचूर्णि' (पृ० ८४३) में 'मयूराङ्कित दीनार' का उल्लेख अतीव महत्वपूर्ण है । डॉ० मोतीचन्द्र (जर्नल, १६, भाग १, १६५४, पृ० ३) का विचार है कि यह दीनार विशेष गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम की मयूरवर्गवाली मुद्रा का द्योतक प्रतीत होता है । वास्तव में जैन साहित्य में प्रारम्भिक युग की मुद्राओं (अर्थात् खत्तपक, सतेरक, पायङ्क, मयूराङ्कित–दीनार.....इत्यादि) का उल्लेख अति महत्वपूर्ण है ।

(२) हरिभद्रसूरि कृत प्रशस्तियों में पाटन के आरंभिक चालुक्य नृपवर्ग (अर्थात् मूलराज, चामुण्ड, वल्लभ, दुर्लभराज) की मुद्राओं का उल्लेख अतीव महत्वपूर्ण है । इनसे यह भी ज्ञात हुआ है कि उल्लिखित शासकों की टंकशाला के अध्यक्ष वीर नामक अधिकारी ने इन सब मुद्राओं पर लक्ष्मी की आकृति अङ्कित करवाई थी । [द्रष्टव्य श्री उमाकान्त शाह के लेख का सारांश, अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन के हेतु प्राप्त निबन्धों का सारांश–संग्रह, १६५३, अहमदाबाद, पृष्ठ १७२] । राजस्थान के जैन शिलालेखों द्वारा भी 'वीसलप्रिय द्रम्म' तथा 'भीमप्रिय दशविंशोपक', 'रूपक' आदि सिक्कों पर पर्याप्त प्रकाश पडता है । [द्रष्टव्य पूर्णचन्द्र नाहर, जैन लेख संग्रह, १, पृष्ठ २४४, २४६.....इत्यादि; मेरा लेख, शोध-पत्रिका, उदयपुर, दिसम्बर १६५३, पृष्ठ १—६] ।

---

४ जर्नल, १४, पृ० ११० ।

५ दिनेशचन्द्र सिरकार कृत 'सक्सैस्सर्ज आफ दि सातवाहनाज', कलकत्ता, १६३६, पृ० २६-७; ऐपिग्राफिया इण्डिया, २०, पृ० २९; द्रष्टव्य क्वैचर्ज .....पृ० १८३-४ ।

१ यही भाव यशोमित्र कृत अभिधर्मकोशव्याख्या में भी उपलब्ध है । द्रष्टव्य मेरा लेख, जर्नल १५, पृ० १५३-४ ।

२ द्रष्टव्य कल्पसूत्रानुवाद, श्री जैकोबी कृत, सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट सीरीज़, २२, पृ० २; अर्धमागधीकोश, श्री रत्नचन्द्र महाराजकृत, भाग ३, १९३०, पृ० १७२; अभिधान—राजेन्द्र, पृ० २५४० इत्यादि । पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में भी दीनार का उल्लेख मिला है [पृ० ५, ६, ३३, ११७ इत्यादि]

३ श्री विमलसूरिकृत । द्रष्टव्य विण्टरनीत्ज़ कृत हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ४७७ फुटनोट ३ ।

४ १४३ ४२ । द्रष्टव्य जर्नल यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी, १९, पृ० ८६ ।

(३) द्रम्म का उल्लेख आवश्यकचूर्णि (७ वीं शताब्दि) में उपलब्ध हुआ है यथा 'नउलओ दमएन थवितो'। इस ग्रन्थ में दमअ तथा द्रमक रूप मिलते हैं [जर्नल ऑफ एम० एस० यूनि० बड़ौदा, मार्च १९५४, पृ० ५६-७]। वैसे तो मारवाड़ान्तर्गत गोठ मंगलोद नामक स्थान से प्राप्त ७ वीं शताब्दि के शिलालेख में भी द्रम्मों का वर्णन किया गया है [द्रष्टव्य ऐपिग्राफ़िया ११ पृ० २९९ तथा आगे]।

उल्लिखित अल्पवृत्त द्वारा यह विदित होता है कि जैन ग्रन्थ तो मुद्रा के क्षेत्र में एक अमूल्य भण्डार हैं। इस दिशा में अधिक सामग्री को प्रकाश में लाने की नितान्त आवश्यकता है। आशा है विद्वद्वर्ग जैन साहित्य का भारतीय व विदेशी मुद्रा के दृष्टिकोण से अधिक मात्रा में मन्थन कर ज्ञानवृद्धि के प्रशस्त कार्य में सहयोग प्रदान करेंगे। जैन साहित्य द्वारा प्रस्तुत कुछ सामग्री का तो संस्कृत एवं बौद्ध साहित्य में सर्वथा अभाव ही दिखाई देता है। सम्भव है भावी खोजों द्वारा और अधिक बहुमूल्य सामग्री की प्राप्ति हो सके।

जैन सम्राट् कुमारपाल सोलङ्की

[श्रीयुत् प्रो० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, लखनऊ]

सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु के उपरान्त उसकी इच्छानुसार उसका दत्तक पुत्र गुर्जर साम्राज्य का अधिकारी न हो सका। प्राचीन गुजराती इतिहास ग्रन्थों से पता चलता है कि सिद्धराज के मन्त्रियों ने उक्त दत्तक पुत्र का हक मारकर कुमारपाल को अन्हिलबाड़े के सिंहासन पर बैठाया था। इसमें सन्देह नहीं कि उसके बहनोई कन्हदेव तथा आश्रयदाता कैलम्बराज उसके प्रधान सहायक थे, आचार्य हेमचन्द्र भी उसीके समर्थक थे और स्वयं राजपुरोहित देवश्री ने अपने हाथों से उसका राज्याभिषेक किया। स्यात् ऐसा करके इन लोगों ने बुद्धिमानी का ही काम किया, क्योंकि अपने तीस वर्ष (सन् ११४३–११७३ ई०) के राज्यकाल में उसने न केवल गुर्जर साम्राज्य को उसके अनेक विभिन्न शत्रुओं से ही सुरक्षा की वरन् उसकी सर्वतोमुखी उन्नति एवं अभिवृद्धि भी की। उसके समय में साम्राज्य की सीमाएँ सर्वाधिक विस्तार को प्राप्त हो गई थीं। स्वयं आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार उसने चेदि, दशार्ण, मालव, महाराष्ट्र, अपरान्त, कुरु, सिन्धु आदि अनेक देशों को विजय किया था और उसके साम्राज्य की सीमा उत्तर में तुरुष्क देश पर्यन्त, पूर्व में गंगा तट तक, दक्षिण में विन्ध्याचल तक और पश्चिम में समुद्र पर्यन्त थी। उत्तरवर्ती प्रबंधकारों के अनुसार उसके साम्राज्य में अठारह देशों का समावेश था। उसके राज्यकाल में देश ने अभूतपूर्व समृद्धि और प्रजा ने अद्वितीय शान्ति और सुख का उपभोग किया था। किसी भी प्रकार का स्वचक्र या परचक्र संबंधी उपद्रव नहीं हुआ, लक्ष्मी के समान प्रकृति भी देश पर प्रसन्न थी, पूरे राज्यकाल में एक भी दुर्भिक्ष नहीं पड़ा। साथ ही ज्ञान, विज्ञान और कला की महत्ता की अभिवृद्धि हुई और धार्मिकता के प्रवाह से भी जनता व्याप्त हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि जैन सम्राट् कुमारपाल के समय में अन्हिल बाड़े के सोलङ्कियों का गुर्जर साम्राज्य अपनी सर्वतोमुखी उन्नति के चरम शिखर पर था, और तत्कालीन भारतवर्ष का सर्वाधिक समृद्ध, शक्तिशाली, उदार एवं सुसंस्कृत साम्राज्य था।

कुमारपालके इतिहास की सामग्री के प्रधान साधन उसके गुरु हेमचन्द्राचार्य रचित 'संस्कृत द्वयाश्रय' काव्य के अन्तिम पांच सर्ग, 'प्राकृत द्वयाश्रय' के आठ सर्ग, 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष 'चरित्र' के अन्तिम भाग, 'महावीर चरित्र', कुमार पाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के मन्त्री यशःपाल द्वारा रचित 'मोहराज पराजय' नामक नाटक, कुमारपाल की मृत्यु के ११ वर्ष पश्चात् सोमप्रभसूरि कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध

तथा राजपुरोहित सोमेश्वर कृत कीर्त्ति कौमुदी नामक समकालीन कृतियों में, चित्तौड़ आदि के शिलालेखों में तथा 'कुमारपाल प्रबंध', कुमार पाल चरित्र', 'प्रबंध चिन्तामणि', 'प्रभावक चरित्र', चतुर्विंशति प्रबंध' आदि उत्तरकालीन रचनाओं में उपलब्ध होते हैं।

कुमार पाल का जन्म सन् १०९३ ई० में दधिस्थली (देथली) नामक स्थान में, जो कि उसके पिता की जागीर थी, हुआ था। मुनि जिन विजय जी के मतानुसार[1] जो मेरु-तुंग के कथन पर आधारित है 'भीमदेव प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र क्षेमराज था, जो अपने छोटे भाई कर्ण को राज्य देकर तपस्वी हो गया था। उसके पुत्र देवपाल ने भी अपने पिता का ही अनुकरण किया और भोगपरायण कर्ण की मृत्यु होने पर जीते-जी चिता में प्रवेश कर गया। उसका पुत्र त्रिभुवनपाल था, जो एक धर्मपरायण क्षत्रिय था, उसके सदाचारी एवं नीति परायण जीवन का प्रभाव सिद्धराज की स्वच्छन्दता पर अंकुश का काम करता था और सिद्धराज भी उसका आदर करता था। कुमारपाल इसी त्रिभुवन पाल का पुत्र था, जिसे अपने पूर्वजों से सदाचार, नीतिमत्ता, धार्मिकता आदि अमूल्य गुणों की निधि मिली थी; किन्तु एक अन्य मत के अनुसार कुमारपाल का पितामह हरपाल भीम प्रथम की उपपत्नी चौला देवी से उत्पन्न हुआ था, कदाचित् इसी कारण ज्येष्ठ होते हुए भी वह राज्य सिंहासन न पा सका और निराश होकर मंडुकेश्वर तीर्थ में जाकर तपस्या करने लगा। हरपाल के पुत्र त्रिभुवन पाल ने काशमीरी देवों से विवाह किया था और उसके तीन पुत्र तथा कन्याएँ उत्पन्न हुईं। इनमें कुमारपाल ज्येष्ठ था। उसकी बड़ी बहिन प्रमिला जयसिंह के एक सेनापति कण्हदेव के साथ विवाही गई थी। अपने संकटकाल में कुमारपाल अपनी स्त्री को प्रमिला के आश्रय में छोड़कर प्रवास में गया था और अन्ततः अपने दूसरे बहनोई कण्हदेव की सहायता से ही वह राजा हो पाया। उसकी दूसरी बहिन देवल का विवाह सपादलक्ष के स्वामी अर्णोराज के साथ हुआ बताया जाता है[2]। किन्तु यह कथन भ्रमपूर्ण है। वास्तव में अर्णोराज का विवाह जयसिंह सिद्धराज की एकमात्र कन्या कञ्चन कुमारी के साथ हुआ था, कुमारपाल की बहिन देवल के साथ नहीं।

सपादलक्ष भी उस समय का एक प्रसिद्ध राज्य था और उसमें पंजाब प्रान्तस्थ हांसी, अजमेर, जोधपुर से ६ मील उत्तर में स्थित मारवाड़ की प्राचीन राजधानी मन्दोर, मेवाड़ का मांडलगढ़ आदि स्थान सम्मिलित थे। अर्णोराज अर्थात् अनाजी चौहान ने ही अजमेर में प्रसिद्ध अनासागर झील का निर्माण कराया था। खरतरगच्छ

१—राजर्षि कुमार पाल—पत्रिका नं० २२, J. C. R. S.

2—Kumar pala Chalukya-U. S. Tauh, J. G. May 1914, pp. 181-188

की पट्टावलि के अनुसार वह जिनदत्तसूरि का मित्र था और उनके लिये अजमेर में एक जैन मंदिर निर्माण कराने के लिये उसने भूमि प्रदान की थी। उसकी राजधानी शांकुभरी अर्थात् सांभर थी। ये चौहान राजे जैन धर्म के प्रति अत्यधिक सहिष्णुता एवं आदर का भाव रखते थे और उक्त वंश के अनेक व्यक्ति जैनधर्म के भक्त भी थे। अजमेर का प्रसिद्ध सोनीवंश उस समय भी विद्यमान था और उन्होंने हस्तिनागपुर आदि दूरस्थ तीर्थों के लिए दिगम्बर जैन मूर्त्तियां निर्माण कराकर प्रतिष्ठित कराई थीं[1]। राज्य में दिगम्बर-श्वेताम्बर उभय सम्प्रदाय के साधुओं का विहार होता था।

कुमारपाल का पिता त्रिभुवनपाल अपने पिता, पितामह की भाँति संसार त्यागी तो नहीं हुआ; किन्तु वह सदाचारी और नीतिपरायण था। राजा सिद्धराज उसका आदर करता था और उसने उसे एक जागीर भी प्रदान की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धराज के राज्यकाल के उत्तरार्ध में राजा के कोई पुत्र संतान न होने के कारण और उसकी आगे भी कोई संभावना न होने से त्रिभुवन पाल के मन में यह आशा उदित हुई कि सिद्धराज की मृत्यु के उपरान्त वह स्वयं अथवा उसका पुत्र कुमारपाल सिंहासन प्राप्त कर सकता है। इस आकांक्षा से प्रेरित होकर संभवतया उसने सिद्धराज के जीवन काल में ही अपने लिये उत्तराधिकार सुरक्षित करने के लिए प्रयत्न करने शुरु कर दिये थे। सिद्धराज को उनकी सूचना जैसे ही मिली उसने त्रिभुवनपाल की हत्या करवा कर इस कंटक को दूर कर दिया। कुमारपाल उस समय पूर्ण युवा था और अपने पिता से कहीं अधिक महत्त्वाकांक्षी था। यह बात सिद्धराज से छिपी न रही, अतः उसने पिता की भांति पुत्र को भी नष्ट करने का उपाय किया। किन्तु कुमारपाल अपनी चतुराई, भाग्य और सहायकों की कृपा से बच निकला। अपने जीवन की रक्षा के लिये उसे वर्षों तक इधर उधर मारे मारे फिरते और छिपते रहना पड़ा। उसकी सारी युवावस्था इसी संकटापन्न दशा में बीती।

अस्तु, जयसिंह सिद्धराज की मृत्यु के पश्चात् सन् ११४३ ई० में कुमारपाल ही अन्हिलबाड़े के सिंहासन पर आसीन हुआ। उस समय उसकी आयु लगभग पचास वर्ष की थी। राज्य प्राप्त करने के उपरान्त ही उसने अपने सभी समर्थकों एवं संकट काल के सहायकों को उदारतापूर्वक सन्तुष्ट किया। महामन्त्री उदयन के सुयोग्य पुत्र बाहड (वाग्भट्ट) को उसने अपना प्रधान मन्त्री बनाया। कुम्भकार अलिंग को राजसभा का प्रमुख सदस्य बना दिया और पुरोहित देवकी आदि को विपुल द्रव्य प्रदान किया। किन्तु राज्य के कुछ पुराने सामन्त सर्दारों को उसका यह व्यवहार नहीं रुचा,

१—हमारी पुस्तक–'हस्तिनापुर'

उनकी स्थिति को धक्का पहुंचा था, अतः वे उसके शत्रु हो गये और उसकी हत्या करने के लिये षड्यन्त्र रचने लगे। किन्तु भेद खुल गया और समस्त षड्यन्त्र कारियों को कठोर दण्ड दिया गया। राजा होने के थोड़े समय बाद ही उसका अपने परम सहायक कण्हदेव के साथ भी मनमुटाव हो गया। संभवतया इन दोनों के बीच अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने का द्वन्द चला। कण्ह ने राजा की अवहेलना की और उसके नीचकुलोत्पन्न होने का प्रचार किया तथा उसके राज्याधिकार औचित्य का भी प्रश्न उठाया। स्वाभिमानी कुमारपाल इसे सहन न कर सका। कण्हदेव उसका बहनोई था और राज्य प्राप्ति में प्रधान सहायक था, अतः राजा ने पहले तो उसे चेतावनी दी, किन्तु इस पर कण्ह ने कोई ध्यान नहीं दिया। विवश होकर कुमारपाल ने उसे बन्दी किया और अन्धा करवा दिया, तत्पश्चात् सिद्धराज के दत्तक पुत्र चाहड के कारण अर्णोराज के साथ उसके भीषण युद्ध हुए। किन्तु बावजूद गृहद्रोह एवं विश्वासघातों के कुमारपाल ने अपनी वीरता एवं अद्भुत सैन्य संचालन पटुता के कारण उन दोनों को करारी हार दी और बन्दी बना लिया। तिसपर भी अर्णोराज को उसने फिर से मुक्त कर दिया और चाहड को भी क्षमा करके अपने दरबार में ही एक पद दे दिया। चाहड की चालाकी से मालवापति बल्लालदेव ने भी उसी समय गुजरात पर आक्रमण करने की तैयारी कर दी थी। कुमारपाल का एक विश्वास वीर सेनापति कालभट द्रुतवेग से बल्लालदेव के ऊपर चढ़ दौड़ा और उसका शिरश्छेद करके उसने कुमारपाल की विजय पताका उज्जयिनी के राजमहल पर फहरा दी। जिस समय राजा अर्णोराज के विरुद्ध सेना लेकर जा रहा था तो आबू के निकट पहुंचने पर उसीके एक सामन्त, चन्द्रावती के महामंडलेश्वर विक्रमसिंह ने उसकी हत्या करने का षड्यन्त्र रचा। कुमारपाल सावधान था और इस बार से भी बाल बाल बच गया। विक्रमसिंह की जागीर जप्त कर ली गयी और वह उसके भतीजे यशोधवल को दे दी गयी। मालवा और मारवाड़ दोनों को सिद्धराज ही विजय कर चुका था, किन्तु कुमारपाल के राज्य होनेपर उन दोनों ने ही गुजरात की पताका को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया, किन्तु अपनी राजनीतिक विचक्षणता एवं अतुल पराक्रम से कुमारपाल ने उन दोनों को ही फिर से भली प्रकार पराभूत किया। उसने पंजाब पर भी आक्रमण किया और चित्तौड़ विजय किया। जिस साजन कुम्भकार ने एक बार काँटों के ढेर में छिपाकर उसकी सिद्धराज के सैनिकों से रक्षा की थी उसे इस चित्तौड़ प्रदेश के सातसौ ग्रामों की वार्षिक आमदनी का पट्टा लिख दिया। इन सब बातों का उल्लेख सन् ११५० के चित्तौड़ के शिलालेख में मिलता है। एक बार

फिर वह सपादलक्ष की ओर झुका और चाहड के सेनापतित्व में ही अर्णोराज पर आक्रमण करके उसे बुरी तरह हराया तथा विपुल धनराशि—सातकरोड़ स्वर्ण मुद्राएँ और सातसौ अश्व प्राप्त किये।

गुजरात की दक्षिणी सीमापर कोङ्कण-राज्य था जिसकी राजधानी ठाणापत्तन में शिलाहारवंशी राजा मल्लिकार्जुन, जिसका कि विरुद्ध 'राजपितामह' था, राज्य करता था। कोंकेण के दक्षिण में गोपालपट्टन (गोआ) में कर्णाटक के कदम्बवंशियों का राज्य था। सिद्धराज की माता मयणल्ला देवी इसी राजवंश की कन्या थी अतः गुजरात और कदंबों को इस गाढ़ मैत्री के कारण बीच में धँसे हुए शिलाहार भी सोलङ्कियों के मित्र बने रहे। किन्तु कुमारपाल के राज्य होते ही और मालवा एवं मारवाड़ को उसके विरुद्ध उठते देख मल्लिकार्जुन ने भी गुजरात पर आक्रमण करने की तैयारी की। यह घटना लगभग सन् ११५६ ई० की है। कुमारपाल की अधिक भाग सेना मारवाड़, मालवा के युद्धों में फँसी थी, फिर भी उसने मन्त्रीराज डरयन के पुत्र दण्डनायक आँबडभट्ट को एक सेना लेकर कोंकण चक्रवर्ती का दर्प चूर्ण करने के लिए तुरत रवाना किया। जिस समय यह सेना नदी पार कर रही थी तो मल्लिकार्जुन ने उस पर अचानक आक्रमण करके उसे तितर बितर कर दिया। किन्तु कुमारपाल इस असफलता से निराश नहीं हुआ और उसने तुरन्त नवीन तैयारी के साथ आँबड को फिर से भेजा। इस बार वीर आँबड ने शिलाहार नरेश को बुरी तरह हराया और उसका सिर काटकर अपने राजा के पास अन्हिलवाड़े भेज दिया। कोंकण गुर्जर साम्राज्य में मिला लिया गया। कुमारपाल की राज्यसत्ता दक्षिण में भी दूर तक फैल गई और सह्याद्रि के सुदूर शिखर तक गुजरात को ताम्रचूड विजय ध्वजा फहराने लगा। आँबडभट्ट को इस सेवा के उपलक्ष में राजा ने निहत शिलाहार नरेश का विशद 'राजपितामह' प्रदान किया। विन्ध्यअटवी को पददलित करनेवाले, गजयूथों को शिक्षित करके अन्हिलवाड़े की हस्तिशालाओं को अजेय बना देनेवाले तथा धनुर्विद्या प्रवीण दण्डनायक लहर भी जैन ही थे।

वस्तुतः कुमारपाल मिथ्या महत्त्वाकांक्षी नहीं था। फिर भी वह एक प्रतापी एवं पराक्रमी नरेश था, विविध राज्योचित गुणों का उसके व्यक्तित्व में भली प्रकार समावेश था। उसकी सहज सफलता का एक यह भी प्रधान कारण है कि राज्यारूढ़ होते ही उसने जिन मन्त्रियों, सेनापतियों और राज्य कर्मचारियों को नियुक्त किया था वे सभी अत्यन्त सुयोग्य, विश्वासी एवं प्रभुभक्त सिद्ध हुए। अतः सिंहासन पर बैठने के छः सात वर्ष के भीतर ही वह समस्त आन्तरिक द्रोह, विरोध एवं षड्यन्त्रों

का दमन करने में सफल हुआ, तथा आगामी छः सात वर्षों में ही उसने अपनी उपरोक्त चमत्कारी दिग्विजय भी सम्पन्न कर ली। अवशेष लगभग १५ वर्ष उसे देश की समृद्धि बढ़ाने, शासन व्यवस्था को सुचारुरूप देने, ज्ञान और कला को प्रोत्साहन देने, धर्मसाधन करने तथा ऐसे ही अन्य शान्तिपूर्ण कार्यों के सम्पादन के लिये मिल गये।

अपने प्रारंभिक जीवन में प्रत्युत सिंहासन पर बैठने के भी कुछ समय बाद तक कुमारपाल अपने पूर्वजों की नाईं धर्म से शैव था। वह पशुबलि में भी विश्वास करता था और मद्यमांसादि का भी सेवन करता था। रक्तपात करने एवं विनाशकारी युद्धों के छेड़ने में भी उसे कोई हिचक न होती थी। किन्तु आचार्य हेमचन्द्र सूरि के संसर्ग में आने के उपरान्त धीरे धीरे उसमें सद्धर्म की भावना जागृत होने लगी। उनके उपदेशों के प्रभाव से वह शनैः शनैः जैनधर्म का परमभक्त हो गया। सन् ११५९ में उसने प्रकट रूप से जैनधर्म अंगीकार कर लिया। इस धर्म परिवर्तन के कारण उसका जीवन ही बदल गया। उसने श्रावक के बारह व्रत धारण किये, मद्यमांसादि सेवन का सर्वथा त्याग कर दिया, राज्य विस्तार के लिए युद्ध करने छोड़ दिये, अपने निर्बल पड़ोसी राज्यों के अधिकारों का भी आदर किया, मृत्यु दण्ड बन्द कर दिया, जीव हिंसा की बन्दी के लिए राज्य भर में अमारि घोषणा करवादी, देवी देवताओं के उपलक्ष से होने वाली पशुबलि का भी निषेध कर दिया, मदिरादिक मादक द्रव्यों की बिक्री बन्द करवादी और द्यूत क्रीड़ा के विरुद्ध कानून पास किये। उसने निस्सन्तान विधवाओं को पीछे छोड़ जाने वाले मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति को राज्य द्वारा जप्त किये जाने की प्राचीन प्रथा का अन्त कर दिया, भले ही इससे राज्यकोष को एक करोड़ रुपये वार्षिक से अधिक धन की हानि हुई। उसकी आकांक्षा संघपति बनने की थी, अतः गुरु हेमचन्द्र के उपदेश से उसने अपने समस्त परिवार, मन्त्रियों, व्यापारियों, मुनियों एवं आर्यिकाओं आदि से युक्त विशाल चतुर्विध संघ सहित शत्रुञ्जय, गिरनार तथा काठियावाड़ के अन्य तीर्थस्थलों की भक्ति पूर्वक यात्रा एवं वन्दना की।

कुमारपाल निर्माता भी अद्भुत था। परम्परानुसार प्रायः सर्व अज्ञात मूल जिन मन्दिरों एवं अन्य धर्मायतनों के निर्माण का श्रेय मौर्य सम्राट् सम्प्रति के पश्चात् उसीको दिया जाता है। कहा जाता है कि उसने १४४० नवीन जिनालय निर्माण कराये और १६०० प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया, राजधानी में उसने अपने पिता की स्मृति में भ० नेमिनाथ का त्रिभुवन विहार नामक मनोरम जिनालय बनवाया। एक बार अपने प्रवासकाल में वह तीन दिन का भूखा था, करम्भा नामक

एक दीन स्त्री ने उसपर तरस खाकर उसे अपने घर भोजन कराया था, अतः राजा होने पर उस देवी के प्रति कृतज्ञता प्रकाशनार्थ उसने उसके नाम पर करम्भा विहार नामक मंदिर बनवा दिया। खम्भात के उस मन्दिर का, जिसमें हेमचन्द्रसूरि की दीक्षा हुई थी, जीर्णोद्धार कराकर उसमें बहुमूल्य रत्नमयी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कराईं। हेमचन्द्र द्वारा समर्थित गौड़ बृहस्पति के प्रस्ताव पर सोमनाथ के जीर्ण-शीर्ण मन्दिर का भी पुनरुद्धार किया। मारवाड़स्थ जालौर के दो मन्दिर भी उसी के बनवाये हुए कहे जाते हैं। गिरनारपर्वत पर उसने सीढ़िया बनवाईं। उसने अन्हिलपुर में पार्श्वनाथ के लिए कुमार विहार बनवाया तो शिव के लिए उसी के पड़ौस में कुमार पालेश्वर का भी निर्माण कराया। ऐसी उत्कट धार्मिक सहिष्णुता के विरले ही उदाहरण मिलेंगे।

जब सिंहासन पर बैठा तो कुमारपाल नितान्त निरक्षर था किन्तु मन्त्री कपर्दिन के आग्रह से उसने पढ़ना लिखना प्रारम्भ किया और एक वर्ष में ही तीन काव्यों को व्याख्यासहित पढ़ डाला। उसे विद्वानों की संगति तथा उनके वाद-विवादों में अत्यधिक आनन्द आता था। कवि पंडित और चारण सभी उसके दरबार की शोभा बढ़ाते थे और सम्मान तथा आश्रय प्राप्त करते थे। श्रीपाल उसकी सभा का राजकवि था और सोलक संगीताचार्य। अन्य अनेक जैन-अजैन विद्वान् उसकी राजधानी को शोभित करते थे, और इसी कारण कुमारपाल के गुजरात को विवेक बृहस्पति का विरुद्ध प्राप्त हुआ। इस राजा ने २१ शास्त्र भंडार स्थापित किये और प्राचीन ग्रंथों एवं लेखों की प्रतिलिपि कराने के लिये एक विशाल कार्यालय खोला।

कुमारपाल आदर्श एक पत्नीव्रत का पालक था, अपनी एकमात्र महिषी भोपला देवी से वह अत्यन्त प्रेम करता था। उसकी मृत्यु के उपरान्त भी शायद उसने दूसरा विवाह नहीं किया। आचार्य हेमचन्द्र का यह प्रिय शिष्य एक आदर्श जैन नरेश था। भारत के अन्य महान् नरेशों चन्द्रगुप्त, मौर्य, अशोक, सम्प्रति, खारवेल, विक्रम, हर्ष, अमोघवर्ष, अकबर आदि की भाँति यह प्रतापी जैन सम्राट् एक सच्चे साधु की उदारता और त्याग के साथ साथ एक निपुण राजनीतिज्ञ की बुद्धिमत्ता से युक्त, रण कुशल शूरवीर और सहृदय एवं प्रजा वत्सल था। उसका व्यक्तिगत जीवन भी बहुत शुद्ध, सरल एवं धार्मिक था। वह उदार चेता सर्वधर्मसमभावी, दूरदर्शी, निष्पक्ष न्यायप्रिय, कर्त्तव्य परायण, गुण ग्राहक, परिश्रमशील, मितव्ययी एवं सरल प्रकृति का व्यक्ति था। उसकी दिनचर्या एक आदर्श धार्मिक नरेश की दिनचर्या है। धर्म की प्रभावना तथा अन्य अनेक लोकोपयोगी एवं लोक रंजन के कार्यों से वह सर्व

प्रिय होगया था। अपने उपरोक्त गुणों के कारण सम्राट् कुमारपाल को 'परम आर्हत' राजर्षि, जीवदाता, दीनोद्धारक, शरणागत वज्रपञ्जर, विचार चतुर्मुख, परनारी सहोदर इत्यादि अनेक समुपयुक्त उपाधियों एवं विरुद प्राप्त हुए थे। गुर्जरेश्वरों के राज-पुरोहित नागर श्रेष्ठ महाकवि सोमेश्वर के शब्दों में (कीर्त्तिकौमुदी काव्य) इस चौलुक्य चक्रवर्ती जैन सम्राट् कुमारपाल ने 'अपने बाणों से समरांगण में अनेक राजाओं को ही नहीं जीता था वरन् अपने लोकप्रिय गुणों से अपने पूर्वजों को भी जीत लिया था।"

कुमारपाल के कोई पुत्र नहीं था, केवल एक कन्या थी जिसका पुत्र प्रतापमल्ल था। राजा का एक भतीजा अजयपाल गद्दी का दावेदार था, किन्तु सिद्धराज की ही भाँति कुमारपाल भी अपने दोहित्र को ही उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। उसे वह अजयपाल की अपेक्षा श्रेष्ठ भी समझता था। हेमचन्द्र तथा उसका दल भी प्रतापमल्ल का ही समर्थक था। उत्तराधिकार के प्रश्न की यह समस्या चल ही रही थी कि हेमचन्द्र अकस्मात् रोग ग्रस्त हो गये और सन् ११७२ में उनकी मृत्यु हो गई। राजा अपने प्रिय गुरुदेव का वियोग सहन न कर सका और छः महीने बीतते-बीतते उसकी भी सन् ११७३ मृत्यु हो गई।

एक मत के अनुसार, हेमचन्द्र की मृत्यु के ३२ दिन बाद ही स्वयं अजयपाल ने विष देकर कुमारपाल को मार डाला था। हेमचन्द्र का ही एक शिष्य, बालचन्द्र अजयपाल का पक्षपाती था और उसने रामचन्द्र आदि के विरोध एवं गुप्त अभिप्राय की सूचना अजयपाल को दे दी थी। उस काल के श्वेताम्बर यति राजनीति में तो प्रायः प्रकट भाग लेते ही थे, उनमें से कुछ एक ऐसे भी थे जो गुप्तकालीन बौद्ध साधुओं की भाँति कूटनीति से भी काम लेते थे, दलबन्दियों में पड़ते थे और राज्य के आन्तरिक षड्यन्त्रों में भी पूरा योग देते थे।

कुमारपाल के मरते ही अजयपाल ने सिंहासन हथिया लिया और अपने आपको सम्राट् घोषित कर दिया। उसने प्रतापमल्ल के सहायकों और समर्थकों से बुरी तरह बदला लिया और मृत सम्राट् के साथियों पर अमानुषिक अत्याचार किये। उसके द्वारा निर्मित देवालयों तक को नष्ट कर दिया। मन्त्री कपर्दे को गिरफ्तार करके बन्दीगृह में डाल दिया। हेमचन्द्र के पट्टधर कवि रामचन्द्र को गरम तवे पर बैठा कर मार डाला महादण्डनायक आंबडभट्ट से मृत्यु या आधीनता दोनों में से किसी एक को पसन्द करने के लिये कहा गया, परन्तु उस वीर केसरी ने गरज कर उत्तर दिया कि "इस जन्म में तो अर्हंत भगवान ही मेरे देव हैं, हेमचन्द्र ही मेरे गुरु और कुमार पाल ही मेरे स्वामी

हैं, अन्य कोई नहीं हो सकता।" इस पर राजा ने सेना सहित उसके घर पर आक्रमण किया और वह शूर वीरता पूर्वक लड़ता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ। अजयपाल एक निकम्मा और अत्याचारी शासक था, किसी धर्म तथा व्यक्ति का आदर करना वह नहीं जानता था। प्रजा में कोई भी व्यक्ति उससे सन्तुष्ट नहीं था। उसके जैन मन्त्री यशःपाल जो 'मोहराज पराजय' नामक नाटक का रचयिता भी था, तथा आभड़ आदि बड़े बड़े राज्य मान्य जैन सेठ भी उसकी मति फेरने में असमर्थ रहे। अतः तीन वर्ष बीतते-बीतते एक द्वारपाल द्वारा पीठ में छुरा भोंक दिये जाने से सन् ११७७ ई० में दुष्ट अजयपाल की तत्क्षण मृत्यु हो गई।

उसका मित्र गुरुद्रोही एवं गुरुभाई का हत्यारा यति बालचन्द्र भी सुखी न रह सका "यह अपने ही गोत्र की हत्या कराने वाला है", ऐसा कहकर ब्राह्मणों ने बालचन्द्र को अजयपाल के मन से भी उतार दिया। इससे लज्जित होकर वह मालवे की ओर चला गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई।

अजयपाल के पश्चात् भीम द्वितीय गद्दी पर बैठा। वह इस समय बालक ही था। उसका सज्जन नामक एक जैन सेनानायक था जो नियम से प्रातः, सायं सामायिक करता था। युद्ध भूमि में भी हाथी के ऊपर बैठे बैठे ही अपने समय पर वह एकाग्र चित्त से दो घड़ी अपने इस आध्यात्मिक कृत्य का सम्पादन कर लेता और फिर शत्रु संहार की रणभेरी फूंककर अपने क्षात्रधर्म का पालन करता। उसीके सेनापतित्व में आबू की तलहटी में शहाबुद्दीन गौरी जैसे प्रचंड विजेता को भी पराजित होना पड़ा था। मुसलमान इतिहासकार भी इसे स्वीकार करते हैं।

भीम द्वि० के पश्चात् मूलराज द्वि० और त्रिभुवनपाल क्रमशः इस वंश के राजा हुए। किन्तु कुमारपाल के बाद सोलङ्की साम्राज्य का पतन प्रारंभ हो गया था, यह ह्रास काल था और इस अवनति का प्रधान उत्तरदायित्व इन दुर्बल नरेशों पर ही है। फिर भी इस ह्रास काल में भी गुजरात के गौरव एवं प्रतिष्ठा की भरसक सुरक्षा जैन वीरों ने की। इन जैन वीरों में वस्तुपाल, तेजपाल बन्धु युगल सर्वाधिक स्मरणीय हैं। ये दोनों भाई आदर्श जैन थे। मन्त्रीश्वर वस्तुपाल ने गुजरात के स्वराज्य को नष्ट होने से बचाने के लिये अपने जीवन में ब्रेसठ बार युद्ध भूमि में गुर्जर सैन्य का सञ्चालन किया था। इस प्रचंड वीर में स्वाभिमान भी इतना उग्र था कि सामान्य जैन साधु के अपमान का दण्ड देने के लिये उसने स्वयं गुर्जरेश्वर के मातुल का हाथ कटवा डाला था। वह निर्माता भी अद्भुत था। आबू का विश्वविद्यालय जैन कलाधाम-भ० नेमिनाथ का मन्दिर उसने सन् १२३२ ई० में करोड़ों रुपये के

व्यय से बनवाया, सेरिसा में पार्श्वनाथ का भव्य मन्दिर निर्माण कराया, तथा अन्य अनेक स्थानों में नवीन जिनालय बनवाये और पुरानों का जीर्णोद्धार कराया। जैन धर्मायतनों के अतिरिक्त उसने सोमेश्वर, भृगुक्षेत्र, शुक्लतीर्थ, वैद्यनाथ, द्वारिका, काशी, प्रयाग, गोदावरी आदि अनेक हिन्दू तीर्थस्थानों की पूजा अर्चा के निमित्त लाखों का दान दिया, शैव एवं वैष्णव मन्दिर बनवाये, सैकड़ों ब्रह्मशाला एवं ब्रह्मपुरियों का निर्माण किया। अनगिनत कुंए खुदवाये, बाटिकाएँ लगवाईं, सरोवर बनवाये, विद्यापीठ स्थापित किये, अरक्षित स्थानों में दुर्गों का निर्माण किया, सैकड़ों शिवालयों का पुनरुद्धार किया, वेदपाठी ब्राह्मणों को वर्षासन दिये, यहाँ तक कि मुसल्मानों के लिये भी मस्जिदें बनवा दीं और संगमर्मर का एक कलापूर्ण सुन्दर तोरण बनवाकर मक्का शरीफ भिजवाया। ऐसा असाधारण सर्वधर्म समदर्शी एवं महादानी महामात्य तथा वीर सेनानायक जैनधर्म ने ही गुजरात को भेंट किया।

सोलङ्कीवंश का अन्तिम राजा त्रिभुवनपाल धोलका के सामन्त बीसलदेव द्वारा सन् १२४३ ई० में निष्कासित कर दिया गया और सोलङ्कियों के स्थान में बघेले अब गुजरात के स्वामी हुए। बीसलदेव बघेले के समय में भी मन्त्रीश्वर वस्तुपाल अपने पद पर प्रतिष्ठित रहे। सन् १२९८ तक इस प्रान्त पर बघेलों का ही राज्य रहा। बीसलदेव के समय सन् १२५७ में गुजरात में भीषण दुष्काल पड़ा उस समय जगडूशाह नामक जैनधनिक ने अन्न एवं धन से दुष्कालपीड़ितों को जीवन दान दिया था।

अन्त में, अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति उलुगखाँ एवं नसरतखाँ ने गुजरात पर भीषण आक्रमण किया और कर्ण बघेले को पराजित करके उसकी स्त्री कमला देवी और पुत्री देवल देवी को पकड़ कर दिल्ली पहुंचा दिया। शनैः शनैः गुजरात पर मुसल्मानों का राज्य स्थापित हो गया। किन्तु अलाउद्दीन के इन प्रलयंकारी आक्रमणों के समय में गुजरात की आक्रान्त जनता की अद्भुत सेवा पाटण के जैनबन्धुयुगल शाह समरा और सालिग ने की थी। उन्होंने अपनी असाधारण राजकीय पहुँच के कारण सैकड़ों जैन एवं हिन्दू मन्दिरों को मुसल्मानों द्वारा विध्वंस होने से बचा लिया, नष्ट-भ्रष्ट हुए देवालयों का पुनरुद्धार किया व कराया। हजारों लोगों को मुसल्मानों के कैदखानों से मुक्ति दिलाई, जनता को सर्व प्रकार आश्वासन एवं सहायता प्रदान की।

वस्तुतः, चावड़े गये, सोलङ्की गये, बघेले गये और मुसल्मान आये, परन्तु गुजरात की जैन वणिक् शक्ति प्रायः पूर्ववत् बनी रही। स्वदेशी स्वधर्मी राजाओं के समय जो राजकार्य, सेना आदि में उनकी प्रधानता थी वह तो नहीं रही, जैन युद्ध वीरों

एवं मन्त्रियों का तो प्रायः अभाव हो गया किन्तु व्यापार और नागरिक जीवन में उनका प्राधान्य पूर्ववत् बना रहा। जैन साधुओं और विद्वानों को भी कोई बाधा नहीं हुई अतः धार्मिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक प्रगति में विशेष रुकावट नहीं आई। गुजरात के इस उत्कर्ष का लोभ इतिहास की स्मृति का संरक्षण भी सबसे अधिक जैनों ने ही किया है। तत्कालीन इतिहास के सर्वाधिक महत्त्व पूर्ण साधन जैन रचनाएँ ही हैं।

अस्तु इसमें सन्देह नहीं कि यदि मध्यकाल के उस पूर्व मुस्लिम राजपूत युग में गुजरात प्रान्त में जैनधर्म का अभूतपूर्व प्रचार एवं उन्नति हुई तो फलस्वरूप उक्त प्रदेश का राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक भी चरमोत्कर्ष हुआ और उस उत्कर्ष के साधन में जैन जनों का ही सबसे अधिक एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था।

शासनदेवी अम्बिका और उनकी मान्यता का रहस्य।

[श्रीयुत् कामता प्रसाद जैन, D. L., M. R. A. S.]

भारतवर्ष में देवी देवताओं की मान्यता प्राचीन काल से चली आ रही है। मोहनजोदड़ो के पुरातत्व से भी देवी-देवताओं की मान्यता सिद्ध होती है। ब्राह्मणों के वैदिक साहित्य में भी उनका अभाव नहीं है। जैनों के यहाँ भी तीर्थङ्करों की शासन देवियां और देवता प्रसिद्ध हैं। मथुरा कंकालीटीला से एक कुशल कालीन मूर्ति मिली है, जिसे तीर्थङ्कर की माता बताया जाता है। (चित्र नं० १) जिन माता की पूजा का विधान शास्त्रों में मिलता है [१]। इससे स्पष्ट है कि जैनों में ईस्वी पूर्व की शताब्दियों से किंवा पहले से किसी रूप में देवी-देवताओं की मान्यता प्रचलित थी। प्रस्तुत लेख में हमें शासनदेवी अम्बिका के विषय में विचार करना अभीष्ट है।

अम्बिका देवी की मान्यता जैनों और ब्राह्मणों में समान रूप से मिलती है। हम दोनों ही मान्यताओं पर क्रमशः विचार करेंगे।

जैन मान्यता—

पहले ही जैन मान्यता को लीजिये। जैन मान्यता में शासन देवताओं की स्थिति नितान्त अर्वाचीन तो नहीं भासती; क्योंकि उनकी मूर्तियां ईस्वी की प्रारम्भिक शताब्दियों की मिली हैं। यों तो चौबीस तीर्थङ्करों के शासन देवता अलग-अलग हैं, परन्तु उनमें अम्बिका देवी की मान्यता प्रमुख और प्राचीन है। उनका सम्बन्ध प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के साथ भी जोड़ा जाता है [२]। यद्यपि अम्बिका वास्तव में २२ वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की शासनदेवी मानी गई हैं। अम्बिका देवी की उत्पत्ति के विषय में जैनों के दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में एक कथा प्रचलित है, जिसे यहाँ संक्षेप में उपस्थित किया जाता है।

दिगम्बर कथा—

दिगम्बर जैनों में यद्यपि अम्बिका का उल्लेख प्रतिष्ठा ग्रन्थों में हुआ है, परन्तु उनकी उत्पत्ति विषयक कथा 'पुण्याश्रव कथाकोष' की एक प्राचीन प्रति में 'यक्षीकथा' के शीर्षक से मिलती है। यह प्रति जिनकांची के भट्टारक जी के भंडार में है। प्रो० टी० एन० रामचन्द्रन्[३] ने इसके आधार

१—संभवतः चक्रेश्वरी को ही अम्बा कहा गया होगा।

२—अंबाः सर्वाः सविध्यस्त्रिजगदधिपति प्राप्तपूजाधिकारा अत्रागत्याध्वरोर्व्यां व्यजनकृतमिह स्वादरेण वृणंतु। अध्वर्यूपत्निका वा घृततनुकुलयोर्दोषहीनां प्रकल्प्यवादित्रोद्घोषपूर्वं विहितयमदमां भूषयेत्पुण्यमूर्तिम् ॥७१८॥

—श्री जयसेन प्रतिष्ठा पाठ

3—Tiru paruthi Kunram and its Temples, pp. 157-160.

से अम्बिका की कथा का सार लिखा था, जिससे प्रगट है कि गिरिनगर में सोमशर्मन् नाम का ब्राह्मण रहता था। अग्निला उसकी पत्नी थी। शुभंकर और प्रभंकर उसके दो पुत्र थे। सोमशर्मा ने पिता का श्राद्ध किया। ब्राह्मणों को न्योता। किन्तु उनके पहले ही वरदत्त मुनि उधर आ निकले। अग्निला ने उनको पड़गाह कर विधिवत् आहार दिया। उसके पति को यह असह्य हुआ। उसने उसे घर से निकाल दिया। वह अपने दोनों पुत्रों और एक दासी को साथ लेकर ऊर्जयन्त पर्वत पर वरदत्त मुनि के पास गई और वहीं आम्रवन में रहने लगी। इसके आगे की कथा वैसी ही है जैसी एक दिगम्बर कथा में मिलती है जो वादीचन्द्रजी की रची हुई है।

श्री वादीचन्द्रजी कृत अम्बिका कथा का सार श्री अगरचंदजी नाहटा ने 'अनेकान्त' (वर्ष १३ किरण ४-५ पृ० १०७-१०८) में इस प्रकार दिया है:—

भारत के सौराष्ट्र प्रान्त के जूनागढ़ के राजा भूपाल थे। उनकी रानी का नाम कनकावती था। इस नगरी में राजपुरोहित सोमशर्मा रहता था। जो कुलीन होने पर भी मिथ्यादृष्टि था। इसकी अग्निला नाम की बुद्धिमती पत्नी थी। वह जैनधर्मानुयायी थी। पति शैव और स्त्री जैन थी। इस धार्मिक भेद के कारण कुछ वैमनस्य रहना स्वाभाविक था। एक बार पितृश्राध्य के दिन सोमने ब्राह्मणों को निमंत्रित किया। संयोगवश ब्राह्मणों के आने से पूर्व ही जैन मुनि ज्ञानसागर जी उसके घर भिक्षार्थ पधारे, अग्निला ने हर्षपूर्वक उन्हें प्रासुक आहार दिया। मुनि आहार कर रैवताचल की गुफा में धर्मसाधन करने लगे। उधर किसी ईर्षालु ब्राह्मण ने अग्निला को मुनि को आहार देते देखा था। उसने निमंत्रित ब्राह्मणों के समक्ष द्वेष बुद्धि से उसे अनौचित्यपूर्ण बतलाया। ब्राह्मणों के भोजन से पूर्व मुनि को आहार दिया गया। इसलिए ब्राह्मण बिना भोजन किए ही गाली देते हुए चले गए, सोमशर्मा निमन्त्रित ब्राह्मणों को इस तरह भूखे जाते देख अग्निला पर कुपित हुआ। वह उसे मारने को दौड़ा— इससे भयभीत होकर अग्निला अपने शुभंकर और विभंकर दोनों पुत्रों को एक कमर में और एक को हृदय में लेकर रैवताचल को चली। वहां ज्ञानसागर मुनि विराज रहे थे। उन्हें नमस्कार कर बैठ गई। मुनि ने उससे भयभीत होने का कारण पूछा, पर बतलाने पर कुल व पति की निन्दा होगी जानकर कुछ भी न कहा।

"इधर उसके पुत्र क्षुधावश रोने लगे। वहाँ वह उन्हें क्या दे? बड़ी चिन्ता हुई। पर इसी समय मुनिदान के पुण्य-प्रसाद से निकटवर्ती आम्र-वृक्ष अकाल में ही फलों से परिपूर्ण हो गया। उसकी लुम्बिकायें नीचे लटकने लगीं। जिनमें पके हुए फल थे। अग्निला ने उन आम्रों से पुत्रों की भूख शान्त की। (श्लोक ३२) इधर कुपित भूखे ब्राह्मणों ने अपने घर जाकर पत्नियों से जाकर भोजन मांगा। पर उन्होंने निमंत्रण के कारण भोजन नहीं बनाया था, अतः कहा ठहरिये—

भोजन अभी बना देती हैं। संयोगवश इसी समय आग लगी और क्षण भर में अग्निला के घर को छोड़ नगर के सब घर जल गये। तब वे ब्राह्मण धनधान्य घर से हीन होकर भूखे और थके हुए सोम के घर वापिस पहुँचे, उन्होंने सोम से कहा कि तुम्हारी भार्या धन्य है; और उसकी प्राप्ति से तुम भी धन्य हो। मुनि-दान के प्रभाव से तुम्हारा घर बच गया। यदि भोजन तैयार हो तो हमें दो। सोम ने आगत सब ब्राह्मणों को भर पेट भोजन कराया, फिर भी वह अक्षय भंडार हो गया (श्लोक ४३) सोम शर्मा अपनी गुणवती पत्नी के सत्कार्य को याद कर उसे मनाने को रैवताचल की ओर चला, अग्निला ने उसे रैवताचल की ओर आते देख, कि वह मारने को आ रहा है—अब क्या करूँ ? उसके हाथ से मारे जाने की अपेक्षा स्वयं मर जाना अच्छा है। वह झट से ऊँचे शिखर पर चढ़कर नेमिनाथ का ध्यान करते हुए कूद पड़ी। जिनेश्वर के शुभ ध्यान से मर कर, वह अम्बिका नामक नेमिनाथ की यक्षिणी हुई। जिसके स्मरण से आज भी विघ्न दूर होते हैं। (श्लोक ४८)

उसका पति ढूंढता हुआ वहां पहुँचा; और उसे मरा हुआ देख विषाद करने लगा। इतने में अग्निला देवी के रूप में पुत्रों को लिए हुए दिखाई दी। सोम ने कहा—घर चलो। अग्निला ने कहा—कि मैं तुम्हारी पत्नी नहीं, देवी हूँ। सोम पत्नी के विरह से दुःखी होकर झम्पापात करके मर गया और मर कर सिंहरूप देवी का वाहन हो गया। अम्बिका उस पर बैठ कर घूमती है।

सोमशर्मा का भाई शिवशर्मा वहाँ आया तो देवी ने अपने दोनों पुत्रों को धन के साथ सौंप दिया, पर पुत्र मन्दबुद्धि वाले थे; इसलिये पढ़ने का प्रयत्न करने पर विद्वान् नहीं बन सके। वे दुखित होकर पहाड़ पर पहुँचे और अम्बिका को याद किया तो अम्बिका ने उन्हें शारदा मंत्र दिया और भादो सुदी १ से ११ तक उपवास सहित जाप करने से बुद्धिमान बनोगे— कह उन्होंने वैसा ही किया और विद्वान् हो गये। शुभंकर ने द्वारिका में बौद्ध पण्डित को जीता, ज्ञान प्रभाव देख कामदेव (प्रद्युम्न) ने कन्याओं द्वारा उनकी पूजा की।

कुछ काल बाद नेमिनाथ वहाँ पधारे, उनसे यह जानकर कि द्वारिका का विनाश होने वाला है, प्रद्युम्न आदि ने दीक्षा ली। शुभंकर और विभंकर ने भी दीक्षा लेकर परम पद प्राप्त किया।

इस प्रकार अम्बिका देवी की उत्पत्ति की यह कथा है। चूंकि भ० नेमि के समय में यह घटना घटी और उनके तीर्थ के लोगों को अम्बिका देवी ने उपकृत किया, इसलिये वह शासन देवी मानी गई। उनकी मूर्तियां भी बनने लगीं। पंडित प्रवर आशाधर जी (१३ वीं शताब्दि) ने अपने 'प्रतिष्ठासार' नामक ग्रन्थ में अम्बिका देवी की आराधना का विधान इस अपेक्षा से ही किया है; यथाः—

'सव्येकद्युपगप्रियंकरसुतुक्प्रीत्यै करे बिभ्रतीं
दिव्याम्रस्तवकं शुभङ्कर करश्लिष्टान्यहस्ताङ्गुलिम्।
सिंहे भर्तृचरे स्थितां हरितभामाम्रद्रुमच्छायगां
वंदारूं दशकार्मुकोच्छ्रयजिनं देवीमिहाम्नां यजे ॥१७६॥

भावार्थः-देवी आम्रा (= अम्बिका) का यजन करते हैं क्योंकि वह उन जिनेन्द्रकी भक्त है जिनका शरीर दस धनुष प्रमाण ऊँचा है—वह देवी गहरे हरित आभावाली है; वह आम्रवृक्ष की छाया में रहती है; वह सिंह पर सवारी करती है, जिसका जीव पूर्वभव में उनका पति था; वह अपने बांयें हाथ में दैवी आम्रफलों का गुच्छा अपने प्रियंकर पुत्र के संतोष के लिए लिये हुए है, जो उनके वामभाग की गोद में बैठा हुआ है; और उनके सीधे हाथ की अङ्गुलियों को शुभङ्कर पकड़े हुए है।

पं० आशाधर के पश्चात् रचे हुए प्रतिष्ठा पाठों में भी शासन देवियों का उल्लेख है;[1] परंतु आचार्य जयसेन कृत सर्व प्राचीन प्रतिष्ठा पाठ में उनका उल्लेख नहीं है। श्री जयसेन जी ने मंडपविधान में चारोंनिकाय के देवों का आह्वान अवश्य किया है, जिन में भवनवासी देव भी हैं। इसमें यक्ष आह्वान के साथ यक्षी के लिए कोई पृथक उल्लेख नहीं है; परंतु यक्षों में ही उनका आह्वान गर्भित माना जाता हो तो आश्चर्य नहीं। देवियों में जिनमाता का 'अम्बा' रूप में और इन्द्राणी एवं दिक्कुमारियों का उल्लेख उन्होंने किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि समयानुसार उक्त यक्षादि आह्वान के आधार से ही यक्ष-यक्षीरूप शासन देवता नियत किये गये। यह एक विषय है जो खोज की अपेक्षा रखता है।

जो हो दिगम्बर कथानक से स्पष्ट है कि अम्बिका देवी तीर्थङ्कर नेमिनाथ की शासन देवी—यक्षी थीं; जो पूर्वभव में उनकी परम भक्त और उपासिका रहीं। देवपर्याय में भी वह जिनेन्द्र भक्ता मिलतीं हैं।

श्वेताम्बर कथा—

श्वेताम्बर जैन साहित्य में अम्बिका का सर्व प्राचीन उल्लेख श्री बप्पभट्टिसूरि (वि० सं० ८००–८९५) विरचित 'चतुर्विंशतिका' की भ० नेमिनाथ की स्तुति में निम्नलिखित दो श्लोकों में मिलता है:—

१—नेमिचन्द्र जी (१६ वीं शती) ने 'प्रतिष्ठा तिलक' (७/२२) में अम्बिका का उल्लेख किया है: "धत्ते वामकरौ प्रियंकर सुतं वामे करे मञ्जरी, आम्रस्यान्यकरे शुभङ्कर तुजौ हस्तं प्रशस्ते हरौ। आस्ते भर्तृचरे महाम्रविटपिच्छायं श्रिताऽभीवृदा, याऽसौ तां नुतनेमिनाथपदयोर्नम्राम्बिकाम्रां यजे ॥"

"जिनवचसि कृतार्था संश्रिता कम्रमाम्रं
समुदितसुमनस्कं दिव्य सौदामनीरुक्।
दिशतु सततमम्बा भूतिपुष्पात्मकं नः
समुदितसुमनस्कं दिव्यसौदामनीरूक् ॥८८॥
सिंहेऽसिं हेलयाऽलं जयति खरनखैर्वीतनिष्ठेऽतनिष्ठे
शुक्ले शुक्लेशनाशं दिशति शुभकृतौ पण्डितेऽखण्डिते खम्।
याते या तेजसाढ्या तडिदिव जलदे भाति धीराऽतिधीरा
पत्यापत्यापनीयात्मुदित समपरार्द्ध्याधमं बाधमम्बा ॥९६॥

यहां उनके शरीर की आभा दिव्य-सौदामिनी के समान श्वेत लिखी है और उनके नख शत्रु के खड्ग को भङ्ग करने में समर्थ बताये हैं। इसी पुस्तक में (पृ० १४८–१५०) अम्बिका देवी कल्प और उसका गुजराती अनुवाद भी दिया हुआ है। उसकी कथा इस प्रकार है:—

"सौराष्ट्र देश में कोडीनार नगर था। उसमें वेदराठी ब्राह्मण सोम रहता था। उसकी पत्नी का नाम अम्बिका था, जिससे उसके दो पुत्र सिद्ध और बुद्ध नामके हुए थे। सोम ने पिता का श्राद्ध किया और ब्राह्मणों को न्योता। रसोई तैयार हुई। अम्बिका की सास स्नान करने गई थी। इतने में एक मासोपवासी जैन साधु भिक्षार्थ पहुँचे। अम्बिका ने विधिवत् उनको आहार दिया। सास ने लौटकर रसोई में प्रवेश किया और जाना कि साधु को भिक्षा दी गई तो वह गुस्सा हो बोली कि "अग्रशिखा साधु को क्यों दी? पहले पिण्ड भरना थे।" उसने सोम से भी सर्व वृत्तान्त कहा। वह आग बबूला हो गया–उसने माना कि उसकी पत्नी स्वच्छन्द है इसलिए उसे घर से निकाल दिया। अम्बिका ने दुखी होकर सिद्ध पुत्र की उंगली पकड़ी और बुद्ध को गोदी ले एक ओर को चल दी। मार्ग में पुत्र तृषातुर हुए तो उसके शील प्रभाव से सूखा सरोवर जल से लहलहा उठा। उसने पुत्रों को शीतल जल पिलाया। पश्चात् लड़के क्षुधातुर हुए तो सामने का सूखा आमका पेड़ हरा भरा हो गया। उसके फल पुत्रों को दिए और उसी आम के वृक्ष तले वे आराम करने लगे। उधर अम्बिका के सासरे में एक कौतुक हुआ कि एक स्त्री ने अपने बालकों को भोजन कराकर उच्छिष्ट भोजन बाहर फेंका सो देवों ने शील धर्म का प्रभाव जतलाने के लिए उसको सोने मोती का कर दिया। अग्निशिखा पर्वतों से बात करने लगी–इतनी ऊँची उठ गई। यह सब देखकर सास को प्रतीत हुआ कि यह सब कुछ उसकी सुलक्षणी बहू का पुण्य प्रभाव है और पुत्र से बोली कि बहू को वापस लिवा लाओ। तदनुसार सोम लिवाने चला। अम्बिका ने दूर से आता देखा सो भयातुर हुई। समझी मारने आ रहा है। चारों ओर देखा तो एक कुंआ दिखाई पड़ा। वह उसी में जा गिरी और शुभपरिणाम से मरकर सौधर्मकल्प से चार योजन नीचे स्थित कोहंड विमान में अम्बिका नामकी महर्द्धिका देवी हुई। विमान के नामकी अपेक्षा वह

'कोहण्डी' भी कहलाई। सोमने अपनी महासती पत्नी को कुये में गिरा देखा सो वह भी गिरा और मरकर उसी विमान में आभियोगिक देवत्तरी के उत्पन्न हुआ। अपने कर्मानुसार वह देवसिंह का रूप रखकर अम्बिका देवी के वाहन का काम करता था। इन भगवती अम्बिका देवी के चार हाथ हैं। दो हाथों में वह आमों की डाली और पाश ग्रहण करती हैं तथा शेष दो हाथों में अंकुश और पुत्र रखती हैं। उनके शरीर का वर्ण तपाए सोने जैसा है। वह नेमिनाथ भगवान की शासन देवी हैं और गिरिनार की शिखर पर बसती हैं। सम्यग्दृष्टियों के विघ्नों को दूर करतीं हैं।"

इसके अतिरिक्त 'प्रभावक चरित्र' एवं अन्य ग्रंथों में भी यह कथा मिलती है। उसका सार नाहटा जी ने यों लिखा है:—

"कणाद मुनि के स्थापित काशहिंद नगर के सर्वदेव ब्राह्मण की देवी सत्य देवी थी। उसकी पुत्री अम्बा कोटिनगर के सोमभट्ट को विवाही गई। विभाकर और शुभंकर दो पुत्र हुए। एक समय नेमिनाथ के शिष्य सुधर्मसूरि के आज्ञावर्ती दो मुनि अम्बिका के घर पधारे, अम्बिका ने उन्हें आहार कराया। इतने में ही सोमभट्ट आ पहुंचा और उसने बिना महादेव के भोग लगाये भोजन का स्पर्श क्यों किया गया कहा और आक्रोशवश उसे मारा। वह दोनों पुत्रों को एक गोद में और एक अंगुली पकड़ कर रैवताचल पहुँची। नेमिनाथ को वन्दना कर आम्रवृक्ष के नीचे विश्राम किया। भूखे बच्चों को आम्रफल देकर पुत्रों सहित शिखर पर झम्पापात किया। नेमिनाथ के स्मरण से देवी हुई। इधर विप्र का क्रोध शान्त हुआ। वह भी रैवताचल को आया। और उन्हें मरा देख पश्चाताप करता हुआ स्वयं भी कुण्ड में पड़कर मर गया। व्यंतर होकर देवी का वाहन सिंह बना। अम्बा देवी अब भी गिरि पर नेमिनाथ के भक्तों की सहाय करती हैं।"

श्री हेमचन्द्राचार्य जी ने 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' (६।३८५) में, श्री शोभनमुनि ने 'स्तुतिचतुर्विंशतिका' (८८ व ९६ श्लोक) इत्यादि ग्रन्थों में भी अम्बिका देवी को नेमिनाथ की शासन देवी लिखा है।

कथाओं की समानता—

उक्त सभी कथायें भ० नेमिनाथ के समय में घटित घटना को चित्रित करती हैं। सभी से प्रगट है कि उस समय वैदिक मत का प्राबल्य था—स्त्री के व्यक्तित्व का कुछ मूल्य न था—जैन साधुओं को ब्राह्मण वर्ग सम्माननीय दृष्टि से नहीं देखता था। इनमें जो कुछ अन्तर है वह नगण्य है। श्वेताम्बर और दिगम्बर कथाओं में शरीर के वर्ण और अग्निला के नाम सम्बन्ध में अन्तर है। एक बड़ा अन्तर यह है कि दिगम्बर अम्बिका को यक्षपर्याय का बताते हैं और श्वेताम्बर सौधर्म कल्प की देवी। किन्तु सभी एक स्वर से उन्हें भ० नेमि की शासन देवी स्वीकार करते हैं।

अम्बिका देवी की मूर्तियां–

जब अम्बिकादेवी शासनदेवता मान्य हुई और लोगों को यह विश्वास हुआ कि उनकी आराधना से विघ्न बाधाएँ दूर होती और इच्छित फल की प्राप्ति होती है, तो उन्होंने उनकी मूर्तियां भी बनाईं।

अम्बिका देवी की मूर्तियां ईस्वी प्रारंभिक शताब्दियों तक की मिली हैं। उनका सुन्दर विवेचन और संकलन श्री उमाकान्त प्रे० शाह ने अपने एक लेख में किया है, जिससे अम्बिका की मूर्तियों का अच्छा परिचय मिलता है। पहले जो मूर्तियां बनीं वे बिल्कुल मनुष्यनी रूप में दो हाथोंवाली थीं। ऐसी सर्व प्राचीन मूर्तियां मथुरा, नवमुनि गुफा उदयगिरि खंड गिरि (उड़ीसा) और काठियावाड़ में ढंककी गुफाओं से उपलब्ध हुई हैं। ये मूर्तियां ईस्वी द्वितीय से सातवीं शताब्दी के मध्यवर्ती काल की हैं। मथुरा कंकालीटीला की मूर्ति गुप्तकालकी है। इसमें अम्बिका के दो हाथ हैं, जिनसे एक में आम्रलुम्बिका और दूसरे से बालक को लिये है। (चित्र सं० २) ढंक की मूर्ति भी ऐसी ही है। (चि० सं० ३)

दक्षिण भारत में भी अम्बिका देवी की मूर्त्तियां उपलब्ध हैं। श्री टी० एन० रामचन्द्रन्‌जी ने जिनकांची के दिगम्बर जैन मठ की दीवालों पर अम्बिका की एक विलक्षण मूर्ति चित्रित देखी है। यह चित्राङ्कण 'पुण्याश्रव' की यक्षीकथा के अनुरूप किया गया है। वह पद्मासन में चार हाथों सहित चित्रित है। दो अधिक हाथों में पाश और अंकुश है। शेष दो अभय और वरद मुद्रा में हैं। किन्तु मैसूर स्टेट के अन्तर्गत अङ्गडि नामक स्थान की जैन बस्ती में अम्बिका की एक बड़ी ही सुन्दर कलामय मूर्ति दो हाथों वाली है। वह खड़ी हुई है और उसकी त्रिभंग की कमनीयता दर्शनीय है। उसके एक हाथ में आम्रलुम्बिका और दूसरे में बालक है।

देवगढ़ के दि० जैन मंदिर से प्राप्त अम्बिका की मूर्तियां भी कला के सुन्दर नमूने हैं। उनके मस्तक के ऊपर भ० नेमिनाथ की मूर्ति बनी हुई है।

श्वेताम्बर जैनों ने भी अम्बिका की दो एवं चार हाथोंवाली मूर्तियां बनाईं हैं। आबू की विमलवसही में अम्बिका की लीलतासन मुद्रा में दर्शनीय मूर्ति है। बड़ौदा, सेरिसा (कलोल) आदि स्थानों के श्वेताम्बर जैन मंदिरों में भी उनकी मूर्तियां मिलती हैं।

उपलब्ध मूर्तियों से पता चलता है कि पहले-पहले अम्बिका देवी की मूर्तियां दो हाथों वाली बनाई गईं और वह उनकी उत्पत्ति विषयक मूल कथानक को देखते हुए ठीक भी थी, परन्तु उनके हाथों की संख्या बढ़ती गई। और अब उनकी मूर्ति दो हाथोंवाली के अतिरिक्त चार, आठ और बीस हाथोंवाली भी मिली है। इस प्रकार की मूर्ति का नमूना आबू की विमलवसही की एक छत में अंकित मिलता है। उनकी मुद्रा भयंकर है और वह हाथों में खंग, शक्ति, गदा,

अंकुश सर्प, फरसा, कमंडलु, कमल आदि लिये हुए हैं [१]।

अलंकृत रूप का रहस्य—

अम्बिका देवी की उत्पत्ति विषयक कथा को देखते हुए उनकी मूर्तिका सुन्दर, सौम्य और स्वाभाविक स्वरूप दो हाथों वाला ही होना चाहिये, क्योंकि मूल रूपमें वह मनुष्य ही थीं। उपरान्त उनके चार, आठ और बीस हाथ बनाये गये, वह रहस्य से खाली नहीं है।

हम जानते हैं कि प्राचीन काल में अलंकृत भाषा का प्रयोग होता था। रहस्यमय रूपकों द्वारा आध्यात्मिक तथ्यों का निरूपण किया जाता था। बैरिस्टर चम्पतराय जी ने 'असहमत-संगम' में बताया है कि वेद, अवस्था, इंजील आदि धर्मग्रन्थ अलंकृत-भाषा में लिखे हुए हैं। मंत्र-तंत्र वाद में भी अलंकृत भाषा का प्रयोग हुआ है। अतः यह प्रतीत होता है कि मध्यकाल में जैनी भी इस अलंकृत भाषा से प्रभावित हुए और उन्होंने वैदिक ब्राह्मणों की देखादेखी अम्बिका देवी की दो से अधिक हाथों वाली मूर्तियां बनाईं। इसका आधार अलंकृत-काव्य-शैली ही प्रतीत होती है।

अम्बिका भ० नेमि की शासन देवी हैं—मनुष्यभव में भी वह उनकी भक्त थीं। भक्त होनेका अर्थ है आराध्यदेव के बताये मार्ग पर चलना उनके प्रशस्त मार्ग को प्रकाशित करना—अम्बिला अथवा अम्बिका ने भ० नेमि के शासन को इस प्रकार से ही प्रभावित किया था। तीर्थङ्कर अज्ञान को मिटाने के लिये अहिंसक और आध्यात्मिक क्रान्ति को जन्म देते हैं जिससे मानव समाज की कायापलट जाती है—वह मानव बनकर आगे आता है। भ० नेमिने भी एक ऐसी ही क्रान्ति को जन्म दिया और उसे सफल बनाया। उनके समय में निम्नलिखित बड़ी बड़ी बुराइयाँ फैली हुई थीं जिनको उन्होंने आमूलचूल मिटाया—

(१) **हिंसामय** युद्धों का ताँता बँधा हुआ था। यादव-जरासंध, यादव-क्षेत्र आदि युद्धों के पश्चात् कौरव-पाण्डवों का महाभारत हुआ। विचारशील और प्रज्ञावान युवक नेमिने अनुभव किया कि हिंसा का अन्त होना चाहिये। अहिंसा जीवन-नौका की पतवार होना चाहिये।

(२) **माँस-मदिरा** का बहु प्रचलन ही हिंसक वृत्ति को पनपा रहा था—वासना थिरक रही थी। युवक नेमिने इसकी निर्ममता का दृश्य अपने विवाह के समय देखा। उनका मन क्रान्ति की ज्वाला से धधक उठा। उन्होंने विवाह का कंगन तोड़ डाला और मौरमुकट उतार फेंका। वह आध्यात्मिक क्रान्ति लाने के लिये गिरिनार की शिखर पर साधना करने के लिये चले गये और सर्वज्ञ बनकर उन्होंने अज्ञान की धज्जियाँ उड़ा दीं।

१—अम्बिका देवी की मूर्तियों के विषय में विशेष परिचय पाने के लिए डॉ० उमाकान्त पी० शाह का 'Iconography of the Jaina Goddess Ambikā' नामक जर्नल ऑव दी यूनीवर्सिटी ऑव बाम्बे, भा० ६ खंड २ में देखिये।

(३) असमता और अज्ञानता समाज में फैल रही थी। स्त्री और शूद्रों का कोई व्यक्तित्व ही न था। द्रौपदी जैसी सती का अपमान खुले दरबार में हो सकता था—क्षीरकदम्ब जैसा प्रखर बुद्धि इसलिये ही ब्राह्मण का शिष्यत्व नहीं पा सकता था कि वह नीचकुल में जन्मा था। ब्रह्मचर्य का अनादर हो रहा था। पुत्र के बिना सद्गति का मिलना असंभव समझा जाता था—यदि पुत्र न हो तो श्राद्धतर्पण कौन करे? किन्तु भ० नेमिने इस विषमता को मिटाया—समाज में समता और विवेक को जागृत किया। अम्बिका के जीवन में उनकी यह क्रान्ति व्यवहारिक रूप धारण किये हुए मिलती है। इसलिये ही वह शासन देवता हुई है।

हमारे विचार से अम्बिका देवी का रूप भ० नेमि की इस क्रान्ति की सफलता का द्योतक है। अम्बिका अहिंसा की प्रतीक है—वह अम्बा अहिंसा है—उनका वाहन सिंह हिंसा का प्रतीक है। जब हिंसा अहिंसा के आधीन रहेगी तब मानव जीवन में विषमता आ ही नहीं सकती—भ० नेमिने यह स्पष्ट बताया था। दूसरे इससे मातृत्व की विशिष्टता भी स्पष्ट होती है—स्त्री का सम्मान होना ही चाहिये। हिंसा अहिंसा के इङ्गित पर चले, इसके लिए मानव को फलाहारी होना आवश्यक है। मानव का स्वाभाविक और आदि आहार फल ही है। एक हाथ में आम की डाली यही बताती है। अम्बिका का दूसरा हाथ शुभंकर पुत्र के ऊपर है और विहंकर पुत्र उनकी गोद में छाती-से सटा हुआ अङ्कित है—यह चित्रण बताता है कि वस्तुतः कौन से पुत्र मानव की सद्गति के लिये आवश्यक हैं? हाड़मॉस के औरस पुत्रों के होने अथवा न होनेपर मानव का आत्मकल्याण निर्भर नहीं है। वह निर्भर है मानव की अहिंसावृत्ति की सन्तति पर! द्रव्यरूप में अहिंसा का पालन शुभंकर होता ही है—इसीलिये अम्बिका से शुभंकर पुत्र अलग अङ्कित हुआ मिलता है। वह बाह्य प्रवृत्ति का द्योतक है। दूसरा पुत्र विहंकर गोद में इसलिये है कि भावों की शुद्धि ही जीव के लिये कल्याणकर है—वह अन्तर की वृत्ति है और मानव को पूर्ण, शुद्ध और सुखी बना देती है। इस प्रकार अम्बिका की मूर्ति का आध्यात्मिक रहस्य है—वह भ० नेमि द्वारा सफलीकृत मानव क्रान्ति की सजीव प्रतिमूर्ति—प्रतीक है!

उपरान्त उनके चार, आठ और बीस हाथ बनाये गये वह आध्यात्मिक शक्तियों को लक्ष्य करके रक्खे गये प्रतीत होते हैं। चार कषायों को मिटाने के लिये चार हाथ चाहिये—ज्ञानका अंकुश और सँवर की पाश जीवन साफल्य के लिये आवश्यक ही है। आठ हाथ आठ कर्मों को विध्वंस करके आठ गुणों को प्राप्त करने के लिये बनाये गये प्रतीत होते हैं। सारांश यह कि शासन देवी के रूप में उन तीर्थङ्कर द्वारा किये हुए सफल कार्यों का अलंकृत चित्राङ्कण हुआ प्रतीत होता है जिनके शासन की वह देवी है। इस विषय में खोज करने की आवश्यकता है। अम्बिका देवी का अलंकृतरूप तो यही बताता है। इस रूप में उनकी आराधना आत्मगुणों की आराधना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वैदिक मान्यता में—

वैदिक मान्यता में आदि देवता इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि हैं। देवियों के लिये ऋग्वेदादि में प्रायः कोई स्थान है ही नहीं, फिर भी ऋग्वेद में उषा का देवी रूप में उल्लेख मिलता है; यथा—

'उपमा येपिशत्तमः कृष्णं व्यक्तमस्थित। उषऋणेव यातय ॥ ७ ॥

'हे उषा! हे रात्रि की अधिष्ठात्री देवी! सब ओर फैला हुआ यह अज्ञानमय काला अन्धकार मेरे निकट आ पहुँचा है। तुम इसे ऋण की भाँति दूर करो; जैसे धन देकर अपने भक्तों के ऋण दूर करती हो, उसी प्रकार ज्ञान देकर इस अज्ञान को भी हटा दो।

—ऋग्वेद मं० १० अ० १० सू० १२७ मंत्र १७

इसमें उषा को एक शक्तिमयी देवी के रूप में आह्वान किया गया है जो अज्ञानान्धकार को मेटती है। उषा से अन्धकार मिटता ही है—वह काल सफल और पुण्यमयी माना गया है। अज्ञान दूर करने के लिये अन्तस् में सम्यक् सम्बोधिका उदय होना आवश्यक है—यह सम्बोधि ही उषा करके उल्लेखित की गयी हो तो आश्चर्य नहीं; परन्तु ऋग्वेद की उषा का सम्बन्ध अम्बिका से कुछ भी प्रतीत नहीं होता!

हमारे मित्र श्री श्रीनिवासजी वर्मा का कहना है कि यजुर्वेद और सामवेद में भी देवियों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उन्होंने अथर्ववेद और पुराणों से देवियों के विषय में कुछ उद्धरण भेजे हैं, जिनके लिये हम उनके आभारी हैं। 'अथर्ववेद' में देवी का एक उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है—

"ॐ सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः कासि त्वं महादेवीति ॥ १ ॥
साब्रवीत्—अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृति पुरुषात्मकं
जगत्। शून्यं चाशून्यं च ॥२॥ अहमानन्दानानन्दौ अहं
विज्ञानाविज्ञाने। अहं ब्रह्म ब्रह्मणी वेदितव्ये। अहं पञ्च-
भूतान्यपञ्चभूतानि। अहमखिलं जगत् ॥३॥ वेदाऽहमवेदा
ऽहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम् अधश्चो-
र्ध्वं च तिर्यक्याहम् ॥४॥" (देव्यथर्व शीर्षम्)

अर्थ-ॐ सभी देवता देवी के समीप गये और नम्रता से पूछने लगे कि हे महादेवि! तुम कौन हो? ॥१॥ उसने कहा—मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ। मुझसे प्रकृति पुरुषात्मक सद्रूप असद्रूप जगत् उत्पन्न हुआ है ॥२॥ मैं आनन्द और आनन्दरूप हूँ। अवश्य जानने योग्य ब्रह्म और अब्रह्म मैं ही हूँ। पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत महाभूत भी मैं ही हूँ। यह सारा दृश्य जगत् मैं ही हूँ ॥३॥ वेद और अवेद मैं हूँ। विद्या और अविद्या भी मैं, अजा और अनजा भी मैं; नीचे ऊपर अगल बगल भी मैं ही हूँ ॥४॥ अथर्ववेद के इस देव्यथर्वशीर्षम् में २६ श्लोक इसी प्रकार के हैं। इनमें

देवी को शक्तिरूप में चित्रित किया है—मूल में वह ब्रह्मस्वरूप है, इसलिए आन्तरिक अध्यात्म-शक्ति ही है। जैनाचार्य समन्तभद्रस्वामी भी अहिंसा-शक्ति को ब्रह्मरूप बताते हैं। (अहिंसाभूतानां ब्रह्मपरमं) यह अन्तरर्स्थित ब्रह्म ही लोक में नाना प्रकार के विकसित रूप में दृश्य हो रहा है, इसी लिये शक्ति रूपी देवी के नाना रूप बताये हैं। यहां अलंकृत भाषा का रहस्य स्पष्ट है।

किन्तु अम्बा अथवा माता के रूप में देवी का रूप पौराणिक काल में ही मिलता है। श्री मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत 'सप्तशती' में देवी की उत्पत्ति का वर्णन निम्न प्रकार लिखा है:—

"इत्थं निशम्य देवानां वचांसि मधुसूदनः।
चकार कोपं शम्भुश्च भ्रकुटी कुटिलाननौ॥
ततोऽतिकोपपूर्णस्य चक्रिणो वदनात्ततः।
निश्चक्राम महत्तेजो ब्रह्मणः शङ्करस्य च॥
अन्येषां चैव देवानां शक्रादीनां शरीरतः।
निर्गतं सुमहत्तेजस्तच्चैक्यं समगच्छत॥
अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्वतम्।
ददृशुस्ते सुरास्तत्र ज्वालाव्याप्तदिगन्तरम्॥
अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेव शरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥
यदभूच्छाम्भरं तेजस्तेनाजायत तन्मुखम्।
याम्येन चाभवन् केशा बाहवो विष्णुतेजसा॥ इत्यादि"

पूर्वकाल में देवताओं और असुरों में पूरे सौ वर्षों तक घोर संग्राम हुआ था, इसमें असुरों का स्वामी महिषासुर था और देवों के नायक इन्द्र थे। उस युद्ध में देवताओं की सेना महाबली असुरों से परास्त हो गई। सम्पूर्ण देवताओं को जीतकर महिषासुर इन्द्र बन बैठा। तब पराजित देवता प्रजापति ब्रह्माजी को आगे करके उस स्थान पर गये जहां शङ्कर और विष्णु विराजमान थे। यह उक्त श्लोकों का प्रसंग है। देवताओं ने अपनी पराजय और असुरों के पराक्रम का यथावत् वृतान्त उन दोनों देवेश्वरों से कहा और रक्षा की याचना की। तब देवताओं के वचन सुनकर भ० विष्णु और शिव ने दैत्यों पर बड़ा क्रोध किया। उनकी भौंहें तन गईं और मुंह टेढ़ा हो गया। तब अत्यन्त कोप से भरे हुए चक्रपाणि श्री विष्णु के मुख से एक महान् तेज प्रगट हुआ। इसी प्रकार ब्रह्मा, शङ्कर तथा इन्द्र आदि अन्यान्य देवताओं के शरीर से भी बड़ा तेज निकला। वह सब मिलकर एक हो गया। महान तेज का वह पुञ्ज जाज्वल्यमान पर्वत-सा जान पड़ा। देवताओं ने देखा, वहां उसकी ज्वालाएँ समस्त दिशाओं में व्याप्त हो रही थीं। सम्पूर्ण देवताओं के शरीर से प्रगट हुए उस तेज की कहीं तुलना नहीं थी। एकत्रित होने पर वह एक नारी के रूपमें

परिणत हो गया और अपने प्रकाश से तीनों लोकों में व्याप्त जान पड़ा। भगवान शङ्कर का जो तेज था उससे उस देवी का मुख प्रगट हुआ। इसी प्रकार प्रत्येक देवता, विष्णु, वरुण, चंद्र, सूर्य, ब्रह्मा, यम आदि के तेज से उस देवी के अङ्गप्रत्यङ्ग बन गये। इस प्रकार अन्यान्य देवताओं के तेज से उस कल्याणमयी देवी का आविर्भाव हुआ—वह जगन्माता हुई। अम्बा देवी की उत्पत्ति की यह कथा अध्यात्म रहस्य से खाली नहीं है। यह अलंकृत भाषा का सुन्दर रूपक है। अम्बिका की मूर्त्ति का रूप और आकार प्रकार भी इसी आधार से बना। अतः उसकी उपासना आध्यात्मिक शक्तियों की ही उपासना है।

वेद और पुराणों में बाह्य घटनाओं का जिक्र प्रायः नहीं के बराबर है। वे आध्यात्मिक ज्ञान कराने के लिये अलंकृत काव्यशैली की अनूठी रचनाएँ हैं। उनको शब्दार्थ में पढ़ना ही नहीं चाहिये—यही कारण है कि उनको गुरुमुख से पढ़ने का विधान था। गुरु पात्र शिष्य को ही उनका आध्यात्मिक रहस्य बताता था। वैदिक ऋषियों ने सभी अध्यात्मशक्तियों के रूपक गढ़ने में कमाल किया है और उन सभी का पुञ्ज अम्बिका देवी का रूपक है।

इस दृष्टि से वैदिक देवता, इन्द्र, सूर्य, अग्नि, आदि कोई व्यक्ति विशेष न रहकर अध्यात्म-शक्ति अथवा परमब्रह्म परमात्मा के ही विविध गुणों को व्यक्त करनेवाले रूप हैं। विद्वानों ने सूर्य को सर्वज्ञता का प्रतीक, इन्द्र को संसारी जीवात्मा का प्रतिरूप, और अग्नि को तपका रूपक सिद्ध किया है। वशिष्ट ऋषि अलंकृतरूप में श्रुति के प्रतीक हैं और विश्वामित्र मनन के। उनके पारस्परिक संघर्ष तर्क और श्रद्धा के संघर्ष की ओर इशारा करते हैं। श्रुति ही श्रेष्ठ है—इसलिए वशिष्ट सर्वत्र विजयी होते हैं। सृष्टि रचना का भाव मानस में अध्यात्म भावों का सिरजन करने से है। संरक्षण आध्यात्मिक विकास का द्योतक है और संहार आसुरी प्रवृत्तियों को नष्ट करने का इंगित है। अतएव ब्रह्मा अध्यात्म बुद्धि का रूपक है, जो मानस को व्यवस्थित करके उसमें अध्यात्म-भावरूपी व्यक्तियों का सिरजन करता है। विष्णु संरक्षक के रूप में धर्मभाव के प्रतीक हैं—वह ब्रह्मा द्वारा सिरजे हुए अध्यात्मभावों का संरक्षण करते हैं और शिव अथवा महेश वैराग्य के प्रतिरूप हैं, जो सभी दुष्कर्मों का नाश कर देता है। इन सभी देवताओं का रहस्यमयीरूप बड़ा ही बोधप्रद है। आवश्यकता है कि यह रहस्य खोज निकाला जावे। अम्बिका देवी में इन सभी देवताओं अथवा आत्मशक्तियों का हौज केन्द्रीभूत किया गया है। इसीलिए अम्बिका की मान्यता विशेष है।

जैन और वैदिक मान्यता की तुलना।*

जैन और वैदिक मान्यता की तुलना करने पर हम उनको एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न पाते हुए भी उन्हें अति निकट पाते हैं; क्योंकि उन दोनों का भाव एक है। अवश्य ही जैनमान्यता

* विशेष के लिए बैरिस्टर चम्पतराय कृत 'असहमत संगम देखिए।

एक ऐतिहासिक घटना के आधार पर टिकी हुई है—तो उधर देवासुर संग्राम भी एक घटित घटना मानी जाती है। जो हो, दोनों मान्यताएँ एक ही दिशा की ओर इंगित करती हैं और वह दिशा है अध्यात्मवाद की! दोनों ही यह घोषित करती हैं कि मानव को हिंसादि आसुरी वृत्तियों को अहिंसादि आत्मगुणों का विकास करके पराजित कर देना चाहिये। अम्बिका इन आत्मगुणों का जाज्वल्यमान प्रतीक है। उनके भक्त उन्हें उनके असलीरूप में पहिचानें और उनसे दया एवं आत्मबल का पाठ पढ़कर आत्मविजयी बनें। उनकी मान्यता का यही रहस्य है!

अथ मोहरम गुरालिख्यते, मतिचन्द्रिका

दोहा

रूपरेष अवसेष नहि, निराकार आकार ।
गुन अस्थित निर्गुन वही, सकल जगत आधार ॥१॥
सवै इन्द्र ब्रह्माण्डको, पोषन भरन सुआइ ।
फतेसिंघ है तुव सरन, प्रथमहि वन्दौं ताय ॥२॥
प्रभु गुरु सरसुती भास्कर, उमानन्द गनेश ।
वेद व्यास कमला जसहि, रक्षा करहू महेस ॥३॥
फतेसिंघ तुव सरन है, जोतिक मति अनुसार ।
आव सहित दूषन रहित, तू निरवाहन हार ॥४॥
पातसाहि नैसेरवा, आदिल महा उदार ।
युजु रूचिमोहि रउजीरमा, सर्वसास्त्र हुसियार ॥५॥
साह कहि जासों तवे, ऐसो करौ विचार ।
आवै भलि बुरी बरस, जानि परै निरधार ॥६॥
कवि पंडित सब जोरतिहि, आगम जाननहार ।
प्रथम हती वह पारसी, सो मत देकै साषि ॥
षुरमसाहि प्रताप तै, वरनत भाषा भाषि ।
दस अरू आठ विचारि सत तेरह ऊपर जान ॥
तव याकौ समुझै वहै पढ़ौ पारसी जान ॥
फतेसिंघ भाषा करी, सुनि समझैसब कोइ
दस अरू आठ विचारि सत, तेरह ऊपर जान ॥
दास आपनौ जानि कै, सातुक मत उर धारि ।
भूल चूक सब माफ कर, लीजौ हृदय विचारि ॥
यह मतिचन्द्रविसाल, अति वांचै सुनै जो कोइ ।
वरस दिनाकौ आगमन, षवदार सो होइ ॥

चौपाई

मास मोहरम को इम जानौ, सुनौ भेद ताकौ जु वषानौ ।
हाय होस तरकन कौ होई, मुहरमा मासु जानिये सोई ॥

दोहा

मासु मुहरम तीज सुदि, आन परै जिहिवार
ता दिन तै वा वरसके, फल अफल निरधार

चौपाई

जौन वार वह तीजु जु होई, ताके फल जानै सब कोई
भली बुरी वरस जो आवै, यातें सब भेदनको पावै

दोहा

पसु पंछीकौ नर आदिदै, जैसी होनी होइ
काल चाल वरसा सकल, यातै समुझौ सोइ

अथ रविवार फल—

जौ वह तीज परै इतवारी, तौ नीकी सब वरस विचारी।
परजा देस सुषी सब होई, द्वंध फिसाद उठे नहि कोई
पानी मनकौ चीतौ वरसै, सस्ते अन्न उनीदे सरसै
फले अधिक व्रछादिक भलें, पंथी सुषी गैल जे चले
पसु पंछीकौ महा अनंद, है कपास कौ थोरौ दुंद
अधिक फरैं मातु दिल होई, यैसी या जानै सब कोई
चौपिवन दूधहोइ अधिकारो, सोदागिर कौ नफा सवारौ
गोहू अधिक होइगे भले, भांति यहै षरबूजा चलै
राजा रंक सुषी सब कोई, कुच अस्त्रिन के पकि है सोई
तिल अरू त्रन अधिकारे जानौ, येसा स्त्र पुनि भेद बषांनौ
सुरज ग्रहन वरस वह पडे, आडौ घटि सोवी सुष करै
रवि की तीजु यही फल होई, फतेसिंघ कहि दीनौ सोई

यति श्री मतिचंद्रकाय रवि फलाफल वर्ननं
फतेसिंघ विरचितायां प्रथमो तात

तिथि वार भेद दूसरी

दोहा

जौ मुहरम की तीज सुदि, सोमवार कौं होइ
ताको फल यैसो कहत, कहत वरनसुनाउ सोइ

चौपइ

पातसाहघट पौरिष होई, वरसै अछो सोई
अंन अन्नादि सब सस्ते जानौ, बड़े बड़े को मृत्यु वषांनौ
राह वाट सब नीकै चलै, वैपारी सौदा में फलै
चौपिन दूध बहुत सौ होई, व्रछन फल फरिहै इमि सोई

लोग लुगाई रोगिल होई, व्याधि कष्ट बहु विधि ते रोई
षेती और काम सबनीके, पुजवे राम मनोरथ जीके
रूई तिली उजिल पुनि जानो, ऊष होय बहु घायह मानो
पंछिन कौं कछु बेडरूनाही, नहीं फिसाद वरस उहिमांही
त्रन बहुतें पै पवन झैकोरैं, ब्रछन मूल डार तैं टोरें
बहुत तेज आगि पुन करै, रोग बहुत पैं नाही मरैं
चौपिन छेरिनकौ उसवास, मनघरि राषौ बहु विस्वास
चंद्रवार वह तीज जु परै, सो वा ऐसे फलको करै

इति श्री मतिचंद्रिकाया चंद्रवार फलाफल वर्ननं फतेसिंघ विरचितायां दुतियौ वृतान्त

चौपही

जौ वह तीज मंगली परै, नैचेया पुनि दंगल करैं
मंगल होय ग्रहन को राज, विनसै रईयत सब दुषित समाज
पानी वेसम यें पुनि वरसे, रोवे रईयत सब दुष सरसै
वोही वरस काल वहु परै, दुषी होय परजा थरहरै
राह वाट में डसै अधिकाई, राजन आपुसमा जल राई
मीर अमीर सवै बे लरै, आपु समझ विग्रहू करै
चोपै बहुत सोजै है मारै, ब्रछ फरे घटि मेवा वारै
चौपिन तरै दूध वहु नाही, होकै महगे अन्न विकाही
रूई ऊष तिल महगे महा, वडौ काल कछु जाय न कहा
दासी दास पुत्र अरु नाती, छाडी भगै सब भांति न भाती
येक न येक कवि डारत ठाढे, येकन वालक घरतें काढे
घात छीन मानस की होई, अदल निसाफ करै न कोई
वहुधा सृष्टि मरै वह जानो, अमीरन के छूटे जु ठिकानौ
अपनी अपनी वाट सब गहै, कोउ पूरव कोउ उत्तर है
आग तेज वैहर अधिकाई, सो पुनि ब्रछन टौरौ घाई
सूरज ग्रहन परै वह साल, टाडी अरू सुवरन तें काल
हैं भोंडो लवरस यह भाई, वने पहिल सौ वरसै सोई
कछु वस्तु पुनि घटिती गनियै, समय न मेघ न वरसे सोई
मेवा आदि ब्रछन हि फरे, तीज मंगली यह गुनि करै

वाची सुनी जथा प्रति भाषी, फते सिंघ पारसी दे साषी

इति श्री मतिचंद्रिकायां भौमवार फल वर्नन फतेसिंघ विरचितायां तृतीयो तात

दोहा

जो मेहरम की तीज सुदि, बुधवार कौं होई
फल अफल वरनन करौं, सुनि समुझै सब कोई

चौपई

राजा बुध ग्रहन कौ होवरस, तासमै दूध न होई
धरती हिंदुस्तानग सोई, वे समयै पुनि वरषा आही
कारज सुफल लटे पुनि जानौ, पातसमहिसौ जूझ वषांनौ
रूक जै है दौलत कै काम, आई बरस जु महा निकाम
तिल गोहूँ महगें जु विकाई, रूई ऊष पुनि मिलती नाही
डरू मानसकौ नेक न होई, नाज षरीद होई बहु सोई
सृष्टि दुषीवरस उही जानौ, राह वाट में विग्रह मांनौ
वेपारी कछु नफा न पावै, ग्रहन परै चंद्रमा सतावै
टाडी आवै जानौ घनी, मीर अमीर न लगिगी ठनी
मरि हैं जूझ जूझ कै सोई, आपु समाझ भगे नहि कोई
दाषै बहुत होई षरवजा, देस हाथ और के सूजा
जांनी हिन्दुस्तान के साहू, आपु समाज करै वहु चाहू
चौंपिनकी घटती पुनि जानौ, वारवार बहु आग वषांनौ
धनु धारिनकौ रोग सतावै, बुध तीजके ये गुन गावै
लिषी पारसी वाची जैसी, फतेसिंह वरनत हौं तैसी
यामै कहौ होत हैं जैसो, जानि परै सब भलौअ नैसो

इति श्री मतिचंद्रिकायां बुधवारफलाफल वर्नन फतेसिंह विरचितायां चतुर्थौं तात ४

तीज वृहस्पति मुहरम सुदि, आनि परैसुनि ताकी विदी
गुरौ राज ग्रहन को करै, वरसै नीर अधिक छित भरै
प्रथीमै विग्रह नहि करै, पातसाहि निहचल हो रहै
भले काम सबही के सरस, धनु धारिनकौ नीकी वरस
सुषी चौकी हायौ सब पंछी, है गरीबकौ बहुधा अछी

रोग बहुत लरकनकौ आवै, उपजैघटिक पास इमि जानौ
वैहर आग जो बहुत वषांनौ, तीज वृहस्पति यह फल जानौं
फतेसिंह यह भेद वषांनौ

इति श्री मतिचंद्रिकायां गुरुवार फलाफल वर्ननं फतेसिंह विरचितायां

पांचमो तात

जो मुहरम की तीज सुदि सुक्रवारी, ग्रहन राज सुकुमार विचारी
सस्ते अन्न होय उहिलासा, गौहू करै अधिक प्रतिपाला
पातसाहि घटि पोरिष जानौ, मानस दुवा नितदार वषांनौ
चोरी तै वची है सब कोई, आनन्द बहुधा प्रगटै सोई
सब सस्ते अछी पुनि कही, षेतीक है माफक सही
जाडौ महा अधिक पुनि सरसै, बरसा समयौ पुनि वरसै
तदिप गौहू नीकै जानौ, मीठौ दूध होई रस मानौ
मानस रहै मात दिल सोई, नफा वनिज में माफक होई
बहुत राग मानसको कहियै, तीज सुक्र के या फल लहिये
प्रथम पारसी यामति सही, फतेसिंह भाषा करं कही

इति श्री मतिचंद्रिकायां सुक्रवार फलाफल वर्ननं

फतेसिंह विरचितायां षष्टमो तात

जौ वह तीज सनीचरी परै, राज ग्रहन को सनिइकु करै
दुवंद फिसाद बहुत अधिकाई, साहिन आपुसमाझ लड़ाई
रइयत हीउ दुषी अधिकारी, राह वाट पुनि जैहै मारी
चौपिजनकों षतरा है सही, वनजमाझ कछु नफा न कही
पंछिनकों कछु वरस न नीकी, आनि परै चौंपिनके जीकी
मारे जाहि रोग पुनि मारे, येक विध लाषन बहुधा करै
मृत्यु लोक उहिसालि घनेरो, ग्रह राजासन होइ अनेरो
अवंधौ योर करै या करता, जानै जो पालक है हरता
फतेसिंघ जथा प्रति साषी, प्रथम हिदै पारसी मति साषी
छूटि जाइ सवई मतिकाचे, राम नामतिहिकौ जो वांचै

दोहा

षुरम साह प्रताप तैं, वरनत भाषा भाषे
कौच नग्र सुभ स्थान में, पारसी मति दे साषि

संवतु आदिजु अंत ही, मास वही पुनिमान
सुदि अष्टमी गुरूवार को, पूरन प्रति वनि जानि
जो याको वांचै सुनै, फल पावे ततकाल
आगम जाने वरसको, व्यापै काल न चाल

इति श्री मतिचंद्रिकायां सनिवार फलाफल वर्नंनो नाम सप्तमो वार।
फलाफल वर्नंनं फतेसिंघ विरचितायां मोहुरम गुरा संपूर्ण।
सुभं भवतु मंगलं ददातु । श्री श्री।

हनसोगे

[ले०—विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री मूडबिद्री]

हनसोगे ग्राम मैसूर जिलांतर्गत कृष्णराज नगर तालुक में सालिग्राम से लगभग पाँच मील दूरी पर अवस्थित है। हाँ, इस समय यह ग्राम दो भागों में विभक्त है। एक का नाम चिक्क (छोटा) हनसोगे और दूसरे का नाम दोड्ड (बड़ा) हनसोगे। पर संभवतः बहुत पहले यह अविभक्त रूप में ही रहा होगा। क्योंकि कई स्थलों में—ग्रन्थों एवं शिलालेखों में—चिक्क या दोड्ड इस विशेषण को न लगाकर सिर्फ हनसोगे के ही रूप में इसका उल्लेख पाया जाता है। इसका एक प्रमाण और है कि मुनियों में प्रचलित प्रसिद्ध हनसोगे 'बलि' जो है, इसके साथ चिक्क या दोड्ड कोई भी विशेषण लगाया हुआ मेरे देखने में नहीं आया। साथ ही साथ विभक्त इन दो ग्रामों में विशेष अन्तर भी नहीं है। दोनों पास ही पास हैं। पूर्व में इसके अभ्युदय के काल में ये दोनों अविभक्त रहकर प्रायः इसकी अवनति के काल में गृह संख्या एवं जन संख्या की कमी से ग्राम दो भागों में विभक्त हो गया होगा। ऐसी दशा में दोनों गाँवों के बीच में, बाद खेतों का बन जाना स्वाभाविक है। इसके लिये प्राचीन स्थानों के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

यह अनुमान मैं उस स्थान को देखकर कह रहा हूँ। १० अक्टूबर, १९५४ को 'चिक्क हनसोगे श्री आदीश्वरस्वामी-देवालय जीर्णोद्धारसंघ' सालिग्राम के सुयोग्य कार्यदर्शी श्री एल० पी० पार्श्वनाथ बी० ए० इस महत्त्वपूर्ण प्राचीन स्थान को दिखलाने के लिये वहाँ पर मुझे लिवा ले गये थे। मैं इसके लिये पार्श्वनाथजीका हृदय से आभारी हूँ। पार्श्वनाथजी वर्तमान वातावरण से परिचित एक धर्मश्रद्धालु, उत्साही नवयुवक हैं। खैर, अब मैं प्रस्तुत विषय पर आ जाता हूँ।

चिक्क हनसोगे में इस समय एक त्रिकूट जिनालय मौजूद है। इसमें तीन जिन मूर्तियाँ विराजमान हैं। इन मूर्तियों में यों तो कोई चिन्ह देखने में नहीं आता है। फिर भी लोगों का कहना है कि बीच की प्रधान मूर्ति आदिनाथ की और शेष दोनों में से एक पार्श्वनाथ की और दूसरी नेमिनाथ की। इसमें संदेह नहीं है कि यह मन्दिर प्राचीन और कला की दृष्टि से सुन्दर है। अनुमानतः ११ वीं शताब्दी का यह जिनालय वीर राजेन्द्र नन्नि चंगाल्वदेव द्वारा पुनः प्रतिष्ठापित होकर प्रायः 'राजेन्द्रचोल जिनालय' के नाम से प्रसिद्ध है।

मन्दिर के दरवाजे पर पड़े हुए पत्थरों पर के लगभग ई० सन् १०६० के एक कन्नड शिलालेख से विदित होता है कि उत्तरीय नहर से सींची गई सारी जमीन सर्वप्रथम ताम्बे के शासन (लेख) पूर्वक रावण के संहारक रामचन्द्र के और बाद विक्रमादित्य के द्वारा इस मन्दिर के लिये जो दान दी गई थी, उस पूरी जमीन को मारसिंहदेव ने फिर दान किया और पहले की ही तरह

इसका रक्षण भी किया[1]। इस लेख से इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि यह मन्दिर वस्तुतः बहुत प्राचीन है। साथ ही साथ कला की दृष्टि से भी महत्त्व का है। यहाँ पर और भी कई लेख हैं। इन लेखों से मालूम होता है कि एक जमाने में यह स्थान विशेष प्रसिद्ध रहा। यहाँ के प्राप्त कतिपय लेखों में कुछ मुनियों की परंपरा भी दी गई है। जनश्रुति है कि प्राचीन काल में यहाँ पर एक विशाल जैन मठ और आसपास बहुत से जैन मन्दिर विद्यमान थे। बल्कि आज भी यत्र तत्र (जहाँ तहाँ) इसके बहुत से चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं। सुना है कि आजकल भी आसपास के कुछ मन्दिरों में पूजादि की व्यवस्था है और प्रायः जैनेतर जनता भी इसमें विशेष दिलचस्पी लेती है।

इस समय दक्षिण कन्नड जिलांतर्गत कारकल में जैनों का जो प्रसिद्ध मठ मौजूद है, वह इस हनसोगे मठ का ही शाखा-मठ है। इसके लिये अनेक शिलालेखीय एवं ग्रांथिक प्रमाण मौजूद हैं। कारकल में मठ के ठीक सामने 'चतुर्मुखबसदि' के नाम से एक विशाल, कलापूर्ण सुन्दर जैन मन्दिर जो वर्तमान है, तत्सम्बन्धी शिलालेख में भी मन्दिर निर्माण काल के स्थानीय गुरु ललितकीर्ति को पनसोगे अर्थात् हनसोगे के देशीय गणीय स्पष्ट बतलाया है। कवि चंद्रम कृत 'गोम्मटेश्वरचरितों' में भट्टारक ललितकीर्ति के गुरुदेव कीर्ति को पनसोगे पूर्वाद्र के अनुपम सूर्य घोषित किया है। 'जिनयज्ञफलोदय' के कर्त्ता मुनि कल्याणकीर्ति जी कारकल के तत्कालीन मठाधीश ललितकीर्तिजी के शिष्य थे। इनका समय शा० श० १३५० है। यह कल्याणकीर्तिजी कारकल में बाहुबली स्वामी की विशालकाय सुन्दर मूर्ति को (ई० सन् १४३१-३२) स्थापित कर अपने नाम को अमर करनेवाले वीरपाण्ड्य भैरवरसओडेय के समकालीन हैं। मुनिजी के गुरु उपर्युक्त ललितकीर्तिजी भैरव राजवंश के क्रमागत राजगुरु थे। आज भी कारकल मठ की गद्दी पर बैठनेवाले भट्टारकों का वही परंपरागत ललितकीर्ति नाम चला आता है। कल्याणकीर्तिजी ने अपने 'जिनयज्ञफलोदय' में भी गुरु ललितकीर्तिजी को मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय, देशीयगण, पुस्तकगच्छ, देवकीर्ति के शिष्य, पनसोगे वंश के रत्न, चरित्रवान्, शीलवान् आदि बतलाया है[2]।

पनसोगे ग्रामवासी मुनि रविचन्द्रजी के द्वारा 'आरा धनासमुच्चय' नामक श्रावकाचार सम्बन्धी एक लघु कलेवर ग्रन्थ भी रचा गया है, जो कि अभी अप्रकाशित है। इस ग्रन्थ के अन्त में यह पद्य मिलता है—"श्रीरविचन्द्रमुनीन्द्रैः पनसोगेग्रामवासिभिर्ग्रंथः रचितोऽयमखिलशास्त्रप्रवीण-

---

१ एपिग्राफिका कर्णाटिका भा० IV नं० २५

२ "श्रीमूलसंघे मुनिशीलतुंगे श्रीकौन्दकुन्दे वरसूरिवृन्दे।
वंशे च देशीयगणे गुणाढ्ये मध्याभतुच्छे घनपुस्तगच्छे ॥४११॥
आसीदसीमापनसोगेपूर्वो वल्यम्बुराशिर्गुणरत्नराशिः।
तस्मादभूच्चन्द्र इव व्रतीन्द्रः श्रीदेवकीर्तिर्जितमारमूर्तिः ॥४१२॥

विद्वन्मनोहारी"। यह भी हनसोगे के महत्त्व को प्रकट करने में सहायक है। अस्तु, अब इस लेख के कलेवर को बढ़ाना मुझे इष्ट नहीं है। अतः जैन समाज से इस अवसर पर इतना निवेदन कर देना चाहता हूँ कि चिक्क हनसोगे में इस समय जो जीर्णोद्धार का कार्य चल रहा है, इसमें प्रत्येक धर्मप्रेमी यथाशक्ति अवश्य सहायता कर दें। क्योंकि प्राचीन क्षेत्रों सम्बन्धी यह एक आवश्यक उपयोगी धर्मकार्य है।

सद्गोत्रजस्तदनुवृत्तरथाधिरूढः सच्छीलवाजिरखिलात्मसुखप्रवृत्तिः।
दोषाकराक्रमणचारुकरप्रचारो हंसोऽप्यसौ ललितकीर्तिरभूदहंसः ॥४१३॥
श्रीललितकीर्तिर्यतिमहदुदयगिरेरभवदागमममूखः।
कल्याणकीर्तिमुनिरविरखिलधरातलबोधनसमर्थः ॥४१४॥

स्वसंपादित 'प्रशस्ति-संग्रह' ४४-१७)

सिद्धराज सोलङ्की का दत्तक पुत्र तथा सम्राट् कुमारपाल का प्रतिद्वन्दी

[श्रीयुत्— प्रो० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, लखनऊ]

गुजरात के इतिहास में सोलङ्की नरेशों का शासनकाल स्वर्णयुग कहलाता है, जो अनेक दृष्टियों से उचित ही है। उक्त स्वर्णयुग के निर्माण का श्रेय तद्वंशीय जिन नरेशों को है उनमें चालुक्य चक्रवर्ती महाराज सिद्धराज जयसिंह (१०९४—११४३ ई०) का विशिष्ट स्थान है। यह राजा इस वंश का छठा नरेश था और महमूद गजनवी के समकालीन गुर्जरराज भीम प्रथम का पौत्र तथा उदयवराहकर्ण का पुत्र था। कर्ण एक भोगपरायण व्यक्ति था और गजनवी के दुर्दान्त आक्रमण से देश को पहुँचने वाली क्षति की पूर्ति करने की न उसमें क्षमता ही थी और न उसने उस ओर कोई प्रयास ही किया। विलासिता, शिथिलाचार, ह्रास और अवनति ही उसके शासनकाल की विशेषताएँ रहीं। किन्तु उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी जयसिंह सिद्धराज ने अपने पचास वर्ष के राज्यकाल में अन्हिलवाड़े के सोलङ्की राज्य की न केवल शक्ति, समृद्धि, विस्तार और प्रतिष्ठा ही बढ़ाई वरन् अपने सुयोग्य जैन मन्त्रियों की सहायता से शासन को भी सुसंगठित किया और ज्ञान एवं कला को भी विपुल प्रोत्साहन दिया।

अपने अन्तिम जीवन में सिद्धराज को एक ही दुःख था, उसके कोई पुत्र नहीं था। केवल एक पुत्री को छोड़ कर संभवतः उसके अन्य कोई सन्तान ही नहीं हुई। स्ववंश में उसका कोई निकट आत्मीय भी ऐसा नहीं था जो उसका उत्तराधिकारी हो सके। जो थे वे उसके पितामह भीमदेव की उपपत्नी की सन्तति में से थे। इनमें से त्रिभुवन पाल और उसका पुत्र कुमारपाल प्रमुख थे। सिद्धराज नहीं चाहता था कि उसकी मृत्यु के उपरान्त इन लोगों के हाथ में उसका राज्य चला जाय। विशेषकर जब उसे राज्य प्राप्ति के लिये इनके द्वारा किये जाने वाले षड्-यन्त्रों और घातों का पता चला तो वह इनसे अत्यन्त असन्तुष्ट हो गया। त्रिभुवनपाल को तो उसने मरवा ही डाला और उसका पुत्र कुमारपाल बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचाकर भाग निकला। अतः सिद्धराज ने इन लोगों से अपनी राज्य की सुरक्षा करने तथा अपनी मृत्यु के उपरान्त होने वाले उत्तराधिकार के द्वन्द को मिटाने के लिये चाहड नामक एक युवक को गोद ले लिया और उक्त दत्तक पुत्र को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।

किन्तु सिद्धराज के इस दत्तक पुत्र का व्यक्तित्व बहुत रहस्य पूर्ण है। निश्चित रूप से यह कहना कि वह कौन था, कठिन है। गुजरात के तत्कालीन इतिहास के प्रधान साधन उसी प्रदेश में तथा प्रायः उसी काल में अथवा उसके कुछ शतकों के भीतर ही रचे गये अनेक जैन

ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ किन्हीं अंशों में धार्मिक एवं साम्प्रदायिक होते हुए भी मुख्यतः ऐतिहासिक ही हैं और ऐसे व्यक्तियों द्वारा रचे गये हैं जिन्हें उक्त इतिहास की जानकारी थी अथवा उसके साधन सुलभ थे। बिना इन ग्रन्थों की सहायता और समुचित उपयोग के उक्त प्रान्त का, विशेषकर मध्यकालीन इतिहास यथार्थतः एवं शृंखलाबद्ध रूप में न जाना ही जा सकता है न लिखा ही। तथापि इन्हीं ग्रन्थों में सिद्धराज के उक्त दत्तक पुत्र के सम्बन्ध में कुछ ऐसे परस्पर विरोधी एवं उलझन में डालने वाले कथन हैं जिनके कारण उस व्यक्ति का ऐतिह्य अन्धकाराच्छन्न हो गया और ऐतिहासिकों के लिये एक पहेली बन गया। श्री एस० बनर्जी ने अपने एक महत्त्वपूर्ण निबंध में इस समस्या को सुलझाने का तथा गुजरात के जैन सम्राट् कुमारपाल के इस प्रबल प्रतिद्वन्दी की वास्तविकता पर प्रकाश डालने का अच्छा प्रयत्न किया है[1]।

वस्तुतः हेमचन्द्राचार्य ने अथवा सिद्धराज या कुमारपाल के समकालीन अन्य किसी लेखक ने अपनी किसी कृति में सिद्धराज द्वारा किसी व्यक्ति को दत्तक पुत्र बनाने का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। कुमारपाल के समर्थकों और पक्षपातियों द्वारा वैसा किया जाना संभव भी न था। फिर भी उस प्रतिद्वन्दी के स्पष्ट अथवा अस्पष्ट संकेत और उसके प्रबल विरोध एवं विद्रोह की सूचनाएँ तत्कालीन कृतियों में भी मिलती हैं। किन्तु गुजरात के इतिहास से सम्बंधित जिन प्राचीन ग्रन्थों में यह कथन पहले पहल मिलता है कि महाराज सिद्धराज जयसिंह के मन्त्रियों ने उसके दत्तक पुत्र का अधिकार अपहरण करके कुमारपाल को अन्हिलपुर पट्टन के सिंहासन पर आसीन कर दिया था और इस घोर अन्याय से क्षुब्ध होकर मृतमहाराज के उस न्याय्य उत्तराधिकारी ने सपादलक्ष (अजमेर) के राजा आनक (अर्णोराज) से सहायता की याचना की, वे ग्रन्थ यद्यपि हैं जैन लेखकों की ही कृतियाँ, किन्तु कुमारपाल की मृत्यु के पर्याप्त समय पश्चात् रचे गये थे। इन ग्रन्थों में भी उक्त व्यक्ति के भिन्न भिन्न नाम मिलते हैं। कुमारपाल प्रबंध के अनुसार उसका नाम 'चारभट' था, प्रभावक चरित्र के अनुसार 'चारुभट', कुमारपाल चरित्र के अनुसार 'छाहड' तथा चतुर्विंशति प्रबन्ध के अनुसार 'चाहड'।

इनमें से 'चारभट' और 'चारुभट' में तो कोई अन्तर ही नहीं है, इसी प्रकार चाहड और छाहड में भी विशेष अन्तर नहीं है, और चाहड स्वयं चारभट का ही रूपान्तर है। 'प्रबंध चिन्तामणि' की एक हस्तलिखित प्रति में उसका नाम चाहड लिखा है किन्तु एक अन्य प्रति में 'बाहड' उपलब्ध होता है उसका मन्त्रीराज उदयन के तन्नाम पुत्र (बाहड अथवा वाग्भट) के साथ एकीकरण कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिलेखकों की कृपा से 'चाहड' का रूपान्तर 'बाहड' हो गया और एक प्रति में बाहड नाम देखकर पश्चाद्वर्ती लिपिकारों ने सिद्धराज के प्रसिद्ध जैन अमात्य श्रीमालवंशी वणिक उदयन के उसी नाम के पुत्र के साथ उसका अभिन्नत्व प्रतिपादन

1 'Identity of Chahad'—Proceedings I. H. C. (VII session), Madras, p. 357.

कर दिया। मुनि जिनविजय जी द्वारा सम्पादित प्रबंध चिन्तामणि के एक अनुच्छेद का अन्त 'उदयन देवस्य' के साथ तथा दूसरे का प्रारंभ 'चाहडनामाकुमार' के साथ हुआ है[1]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस व्यक्ति का नाम वास्तव में 'चाहड' ही था।

हेमचन्द्राचार्य अपने 'संस्कृत द्वयाश्रय काव्य' में उसका उल्लेख स्पष्टतया चाहडरूप में ही करते हैं। इस काव्य के १६ वें सर्ग में एक गुप्तचर महाराज के पास यह समाचार लाता है कि उसके कुछ सर्दार अर्णोराज के पक्ष में चले गये हैं तथा इस बात की पूरी संभावना है कि स्वयं चाहड भी शत्रु पक्ष से मिलने ही वाला है। गुप्तचर कहता है—

"ओ राजन्! कन्थक ग्राम तथा कन्थक झील के तटवर्ती अरण्य प्रदेश एवं शिवरू प्रदेश में स्थित तेरे सर्दारों ने कल तेरा पक्ष त्याग दिया है और यह भय है कि कुमार चाहड भी जो हाथी पर सवार साक्षात् देवराज तुल्य ही दीख पड़ता है कल होते न होते तेरे शत्रुओं से जा मिलेगा[2]। इस श्लोक में चाहड का "हस्त्यधिरोहणेन्द्र" शब्दों में वर्णन किया है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि वह 'गजारूढ़ इन्द्र सदृश प्रतीत होता था' 'किन्तु इस घटना के लगभग सौ वर्ष पश्चात् बनी हुई उक्त काव्य की टीका में इन शब्दों की व्याख्या– 'हक्कामात्रेण हस्तिनां विचासकत्वात्" रूप से की गई है जिसका अर्थ है कि वह अपनी युद्ध गर्जनाओं से शत्रुपक्ष के हाथियों में भय का सञ्चार करता था! परवर्ती लेखकों ने इस टीकाकार के उक्त कथन पर से यह निष्कर्ष निकाल लिया कि चाहड महाराज कुमारपाल की गजसैन्य का रक्षक अथवा सेनापति था और यह कि उसने अपने हाथियों से इस ज़ोर की चिंघाड़ करवाई की शत्रु पक्ष की हस्ति सैन्य स्तंभित रह गई और आगे न बढ़ सकी[3]। यह कथन नितान्त काल्पनिक एवं मन गढ़न्त है और इसका आधार उक्त द्वयाश्रय काव्य की टीका का उपरोक्त उल्लेख ही प्रतीत होता है। संभवतः ऐसे ही कथनों पर विश्वास करके पं० दुर्गाशंकर शास्त्री ने भी चाहड को गुर्जर सम्राट् की गजसेना का रक्षकाधिकारी बतलाया है। उपरोक्त काव्य के उसी श्लोक में चाहड का "तव चाहड" करके उल्लेख किया गया है जो कि सिद्धराज के साथ उसके निकट संबंध अथवा आत्मीयता का सूचक है। श्री बनर्जी ने 'ओराजन्' आदि शब्द कुमारपाल के लिये समझ लिये हैं जो भूल प्रतीत होती है।

प्रबन्ध चिन्तामणि की कुछ प्रतियों में 'कुमारपाल प्रबन्ध' के अन्तर्गत 'बाहड प्रबन्ध' में कुमारपाल के इस प्रतिद्वन्दी को मन्त्री उदयन का पुत्र मानकर उसे वाणिक पुत्र कहा है, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह गलती प्रबन्ध चिन्तामणि की प्रतिलिपि के गलत पाठ का

१ प्रबन्ध चिन्तामणि–सं० जिनविजय, पृ० ७६

२ सं० द्वयाश्रय काव्य, सर्ग १६, श्लो० २४

३ चतुर्विंशति प्रबंध, जि० वि० पृ० ५२, तथा प्रभावक चरित्र, जि० वि०, पृ० २०१

परिणाम है। मुनि जिनविजय द्वारा संपादित उक्त ग्रन्थ के संस्करण में कुमारपाल प्रबन्ध के अन्तर्गत जो 'चाहड प्रबन्ध' संकलित है उसमें चाहड को 'कुमार' अर्थात् राजकुमार कहा है, जिससे ध्वनित होता है कि वह क्षत्रिय पुत्र था, और उसे सम्राट् कुमारपाल का एक मन्त्री बतलाया है[1]। उसमें यह भी कथन है कि इस मन्त्री की अतिशय उदारता को देखकर राजा ने उसे डाँटा कि "तुम अपने द्रव्य को दाहिने बाँये अन्धाधुन्ध लुटा रहे हो जिसे मैं सहन नहीं कर सकता।" इस पर मन्त्री चाहड ने राजा को सगर्व प्रत्युत्तर दिया कि "इसका कारण यह है कि तुम्हारा जन्म तो राज्यवंश में हुआ नहीं है और मैं स्वयं राज्यकुलोत्पन्न हूँ। इसी कारण मेरी ऐसी प्रवृत्ति है।" (यतः स्वामी परम्परया न नृपतेः सुतः अहम् तु नृपसुतः अतो मयैव द्रव्य-व्ययः साधीयान क्रियते)[2] इस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि चाहड एक राजपुत्र था, वह कोई वणिकपुत्र अथवा सामान्य गजपाल नहीं था।

चतुर्विंशति प्रबन्ध तथा राजशेखर के प्रबन्धकोष में भी उसे स्पष्टरूप से राज्यकुलोत्पन्न (राजपुत्र) कहा है। इन ग्रन्थों के अनुसार सिद्धराज की मृत्यु के उपरान्त भी कुछ काल तक कुमारपाल राजधानी से अनुपस्थित ही रहा अतः उसके वहाँ पहुँचने तक राज्यमन्त्रियों ने मृत महाराज की पादुकाएँ सिंहासन पर स्थापित करके राज्यकार्य संचालन किया। उस समय मालव राजकुमार चाहड ने राज्य को हस्तगत करना चाहा, किन्तु अन्हिलवाड़े के राज्यमन्त्रियों ने उसे इस कारण स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह एक विदेशीय (मालव) वंश का राजकुमार था। अपने न्याय अधिकारों की इस अवहेलना से क्षुब्ध होकर उसने चौहानराज आनक अर्थात् अर्णोराज से सहायता माँगी, और इसी हेतु स्वयं जाकर उसकी सेवा में नियुक्त हो गया[3]। अतः इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहता कि चाहड वस्तुतः एक राजकुमार एवं क्षत्रियपुत्र था, कोई वणिकपुत्र अथवा साधारण हस्तिपाल नहीं।

किन्तु चतुर्विंशति प्रबन्ध का यह कथन भी ठीक नहीं जँचता कि यह व्यक्ति मालवराज का पुत्र अथवा कोई भी मालवराजकुमार था। मालवे में उस काल में परमारवंश का राज्य था और सोलङ्कियों एवं परमारों में कोई वंश सम्बन्ध न था। एक परमारवंशी मालवराजकुमार का अन्हिलवाड़े के सोलङ्कियों के सिंहासन पर कोई अधिकार नहीं हो सकता था।

एक यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवतः वह मालव राजकुमार जगदेव परमार हो जिसका अन्हिलवाड़े से सम्बन्ध तथा कुछ काल वहाँ निवास भी रहा था। वह सिद्धराज के राज्यारंभ काल में अन्हिलवाड़े आया था। वह निश्चय ही एक ऐतिहासिक व्यक्ति जैसा कि

१ कुमारपाल के साथ चौहान राज का युद्ध–प्रब० चि०, संपादित जि० वि०, अध्याय १३२
२ वही, मन्त्री चाहड की उदारता, पृ० ६४, अंश १६६
३ जि० वि०–चतुर्विंशति प्रबंध, पृ० ५२, अंश १५१

'जैनद' शिलालेख से सिद्ध है[१]। राजपूत चारण संवत् ११५१ (सन् १०९४ ई०) के लगभग उसके सिद्धराज के दरबार में आने तथा वहाँ रहने का उल्लेख करते हैं। किन्तु साथ ही साथ यह भी कहते हैं कि जब उसे स्वयं अपनी जन्मभूमि (मालवा) के विरुद्ध सिद्धराज के इरादों का पता चला तो वह मालवा वापस चला गया[२]। 'कीर्त्तिकौमुदी' नामक ग्रन्थ के द्वितीय सर्ग में यह उल्लेख है कि सिद्धराज के शासनकाल के प्रारंभिक भाग में उक्त जगदेव अन्हिलवाड़े का नगर रक्षक (शहर कोतवाल) था, जैसा कि भीम द्वितीय के समय में प्रतापमल्ल था[३]। जगदेव की वीरता और सावधानी ने राजधानी को बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रक्खा था। किन्तु भीम द्वितीय के शासन के प्रारंभकाल में कोई वैसा शक्तिशाली एवं योग्य नगर रक्षक न होने से सामन्तों और प्रान्तीय शासकों ने राज्य को टुकड़े टुकड़े करके परस्पर में बाँट लिया था[४]। इस उदाहरण से भी यह स्पष्ट है कि जगदेव परमार सिद्धराज के राज्यकाल के प्रारंभ में ही अन्हिलवाड़े आया था और राजधानी का नगर रक्षक रहा था। थोड़े ही समय के उपरान्त उसका वापस मालवे चला जाना भी सिद्ध है। ऐसी स्थिति में इस घटना के लगभग पचास वर्ष पश्चात् सिद्धराज की मृत्यु के उपरान्त उक्त मालव राजकुमार का अन्हिलवाड़े में होना और फिर कुमारपाल से प्रतिद्वन्दता करना असंभव है। मालवे के समकालीन इतिहास में अन्यत्र भी चाहड का कोई चिन्ह नहीं मिलता। उसे कहीं और ही खोजना होगा।

चौहानों के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो पता चलता है कि इस समय चौहानवंशी राजपूत अजमेर अथवा सपादलक्ष में राज्य करते थे और अनाक अपरनाम अर्णोराज उनका राजा था। सिद्धराज के साथ इस चौहान राज का भीषण युद्ध हुआ था जिसमें चौहान पराजित हो गये थे। अर्णोराज संभवतया बन्दी हो गया था और फिर मुक्त भी कर दिया गया था। इतना ही नहीं सिद्धराज ने उसकी वीरता से मुग्ध होकर अपनी एकमात्र कन्या का विवाह भी उसके साथ कर दिया था। इस तथ्य की पुष्टि कीर्त्ति कौमुदी के उस श्लोक से भी होती है जिसमें कहा गया है कि "अर्णोराज अर्थात् सागर की पुत्री (लक्ष्मी) से विष्णु भगवान ने विवाह किया था, किन्तु यहाँ विष्णु तुल्य महाराज सिद्धराज ने स्वयं अपनी ही कन्या अर्णोराज को प्रदान कर दी, विष्णु और सिद्धराज, इन दोनों में मात्र यही अन्तर है[५]।" बम्बई गज़ेटियर के सम्पादकों ने इस कथन की सत्यता में अविश्वास प्रकट किया है, किन्तु बादको उपलब्ध 'पृथ्वीराज विजय काव्य' नामक ग्रन्थ से उक्त घटना का और अधिक समर्थन हो जाता है। इस ग्रन्थ में तो वह भी

१ वार्षिक रिपोर्ट, हैदराबाद, आर्क० सर्वे, १९२७-२८, पृ० २३०-२३८
२ रासमाला, भा० १, पृ० ११७-१४९
३ कीर्त्ति कौमुदी, सर्ग २, श्लोक० ९८-९९
४ वही श्लो० ९१
५ कीर्त्ति कौमुदी, सर्ग २, श्लो० २८

लिखा है कि सिद्धराज की इस कन्या का नाम काञ्चन देवी था, यद्यपि मूल ग्रन्थ की उपलब्ध प्रति में यह नाम ठीक से पढ़ने में नहीं आता, किन्तु उसकी टीका में स्पष्ट कथन है कि "गुर्जरेन्द्र जय सिंह ने उसे (अर्थात् अर्णोराज को) अपनी पुत्री काञ्चनदेवी विवाह दी जिससे सोमेश्वर उत्पन्न हुआ[1] । इससे स्पष्टतया प्रमाणित हो जाता है कि प्रसिद्ध दिल्लीश्वर पृथ्वीराज चौहान का पिता सोमेश्वर गुजरात के सोलङ्की नरेश जयसिंह सिद्धराज का दौहित्र था । इसी ग्रन्थ में यह भी कथन है कि उसके जन्म के समय ज्योतिषियों ने यह भविष्यद्वाणी की थी कि यह बालक बड़ा होकर महान कार्यों को सिद्धि करेगा[2] । अतएव इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं कि पुत्रविहीन सिद्धराज ने अपने घर ही, जहाँ कि उसके इस दौहित्र सोमेश्वर का जन्म हुआ था, उसका पालन पोषण किया । यह भी स्वाभाविक ही था कि सिद्धराज उसे अपने राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहता था । मन्त्रियों के विरोध और त्रिभुवन पाल कुमारपाल, आदि की दुरभिसंधियों को लक्ष्य करके उसने सोमेश्वर के लिये पाटन का सिंहासन सुरक्षित कर देने के उद्देश्य से उसे प्रकाश्यतः अपना दत्तकपुत्र बना लिया और उत्तराधिकारी घोषित कर दिया ।

पूर्वोक्त जैन प्रबंध ग्रन्थों से पता चलता है कि कुमारपाल को अन्हिलवाड़े का सिंहासन प्राप्त करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, मुख्यतः वह अपने बहनोई मोधरल के प्रान्तीय शासक कण्हदेव की सहायता से ही राज्य प्राप्त कर सका था[3] । कुमारपाल सोमेश्वर की ओर से भी बहुत सावधान रहा और उसे अपना दर्बार छोड़कर कहीं नहीं जाने दिया[4] । इसके लिये उसने उसे अपने दर्बार में ही एक मन्त्री पद देकर अपने निकट ही रखने का प्रबंध किया । कुमारपाल को भय था कि कहीं वह अपने पिता अनाक से जाकर न मिल जायँ । चौहान राज प्रारंभ से ही गुर्जरराज्य का प्रायः एक शत्रु और कुमारपाल का प्रबल प्रतिद्वन्दी रहा था । मृत महाराज का जामाता होने का कारण सिंहासन का वह भी दावेदार था और उसका पुत्र सोमेश्वर तो सिद्धराज द्वारा पालित-पोषित होने, गोद ले लिये जाने और उत्तराधिकारी घोषित कर दिये जाने का कारण न्याय्य एवं एकमात्र प्रबल दावेदार था ही । किन्तु कुमारपाल की इस सब सावधानी के बावजूद सोमेश्वर अवसर मिलते ही अन्ततः पलायन कर ही गया और अपने पिता चौहान राजा से जा मिला ।

कुमारपाल और अर्णोराज के बीच होनेवाले इस युद्ध का जो कारण उक्त जैन लेखकों ने दिया है वह ठीक नहीं है । उनके अनुसार इस युद्ध का कारण अर्णोराज द्वारा कुमारपाल की

१ पृथ्वीराज विजय महाकाव्य, सर्ग ६, टीका श्लो० ३३

२ वही श्लो० ३६

३ प्रब० चिन्तामणि, पृ० ७६, अंश १७७

४ पृथ्वी० म० का०, सर्ग ७, श्लो० ११

बहिन देवलदेवी का जो कि उसके साथ विवाही थी, अपमान किया जाना था[1] । किन्तु पृथ्वीराज महाकाव्य के अनुसार आनक की जो दो रानियाँ थीं उनमें से एक तो मारवाड़ नरेश की पुत्री सुधवा थी और दूसरी सिद्धराज की कन्या कांचन देवी थी[2] । अतः कुमारपाल की बहिन देवल देवी के साथ उसका विवाह होने की बात कुछ ठीक नहीं लगती। या तो यह देवलदेवी चौहानराज की एक तीसरी रानी थी और उसके भाई (कुमारपाल) के द्वारा अपने पुत्र सोमेश्वर का न्याय अधिकार अपहरण किये जाने के कारण अर्णोराज ने देवल देवी का अपमान किया हो और यह कारण पाकर कुमारपाल ने उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया हो। अथवा क्योंकि सिद्धराज की पुत्री काञ्चन देवी भी कुटुम्ब के रिश्ते से कुमारपाल की बहिन ही लगती थी, इन उत्तरवर्ती लेखकों ने उस कुमारपाल की बहिन देवलदेवी के साथ एकीकरण कर दिया। यह भी संभव है कि काञ्चन देवी का ही अपर नाम देवल देवी हो।

इन दोनों राजाओं के बीच दो बार युद्ध हुआ। पहिले में अर्णोराज ने गुजरात पर चढ़ाई की किन्तु वह वहाँ से खदेड़ दिया गया[3] । दूसरी बार कुमारपाल ने अजमेर पर चढ़ाई की और अर्णोराज को बुरी तरह पराजित किया। इस पर उसने कुमारपाल के साथ सन्धि कर ली, साथ ही उसे अपनी पुत्री जाल्हना का कुमारपाल के साथ विवाह करना पड़ा[4] । किन्तु अन्यत्र कई आधारों में उसकी स्त्री का नाम भोपला देवी मिलता है और यह भी कि उसके एक ही रानी थी तथा वह कट्टर एकपत्नी व्रत का पालक था। श्री बनर्जी का अनुमान है कि जाल्हना का ही संभव है दूसरा नाम भोपला देवी हो। किन्तु यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती। प्रथम तो, सिद्धराज के जीवन में ही उक्त नरेश की कुदृष्टि अपने ऊपर होने के कारण जब कुमारपाल प्राण बचा कर गुजरात से भागा था तो वह अपनी स्त्री को अपने बहनोई कण्हदेव तथा बहिन प्रमिला के आश्रय में छोड़ गया था। उसकी यही प्रथम पत्नी थी और उसीका नाम भोपला देवी होना चाहिये। दूसरे राज्यप्राप्ति के समय कुमारपाल की आयु लगभग पचास वर्ष की थी, वह अधेड़ हो चुका था और अनाक के साथ उसका यह दूसरा युद्ध उस समय के कुछ वर्ष बाद ही हुआ था। इतनी अवस्था तक उसके अविवाहित रहने का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। अतः संभव यही है कि सिंहासन प्राप्ति के कुछ समय पूर्व अथवा उपरान्त ही उसकी प्रथम पत्नी भोपला देवी की मृत्यु हो गई हो और तब उसने चौहान राजकुमारी जाल्हना के साथ विवाह कर लिया हो, इससे यह कथन भी असिद्ध नहीं होता कि उसके एक ही रानी थी और वह एक पत्नीव्रत का पालक था। स्वयं उसके गुरु हेमचन्द्र का कथन (जाल्हना विवाह

१ चतुर्विंशति प्रबंध पृ० १०३, कुमारपाल चरित, सर्ग ४, श्लो० १४०–१७३
२ पृथ्वी० म० का०, सर्ग ६, श्लो० ३१ तथा सर्ग ७ श्लो० १६
३ द्वयाश्रय काव्य, सर्ग १६, श्लो० १३
४ प्राकृत द्वयाश्रय, सर्ग ६, गाथा ४२–७०

सम्बन्धी) असत्य नहीं हो सकता।

प्रथम चौहान गुर्जर युद्ध अन्हिलवाड़े के सिंहासन पर सोमेश्वर का अधिकार सिद्ध करने के लिये ही अर्णोराज द्वारा गुजरात पर आक्रमण के रूप में हुआ प्रतीत होता है। यह भी संभव है कि उसी अवसर पर सोमेश्वर कुमारपाल के दर्बार से भागकर और उसका पक्ष त्यागकर अपने पिता अनाक से जा मिला हो। जैनलेखकों के अनुसार आबू के विक्रमसिंह, नाडौल के चौहान राज केल्हन तथा कतिपय अन्य सामन्त सर्दारों को चाहड ने अपने पक्ष में कर लिया था और ये सब अनाक से जा मिले थे। संभवतया गुर्जरराज के ही इन सामन्तों ने इस युद्ध में कुमारपाल का विरोध इस उद्देश्य से किया हो कि वे चाहड को अपने न्याय्य अधिकार की प्राप्ति में सहायता करना अपना धर्म समझते थे; क्योंकि स्वयं मृत महाराज सिद्धराज ने ही उसे अपना दत्तक पुत्र बनाकर अपने राज्य का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था।

जैसा कि ऊपर कथन किया जा चुका है, चाहड हस्ति संचालन में अत्यन्त दक्ष था, और पृथ्वीराज विजय महाकाव्य में भी सोमेश्वर की एक ऐसी योग्यता का उल्लेख आया है। उसमें कथन है कि एक प्रसंग पर सोमेश्वर अपने हाथी पर से कूदकर शत्रु के हाथी पर जा चढ़ा था और उसे उसने अपने अस्त्र से मार गिराया था। ठीक उसी प्रकार जैसे कि हनुमान जी एक पर्वत पर से छलांग मारकर दूसरे पर्वत पर कूद जाते थे [१]। श्री बनर्जी का कहना है कि इस हाथी को इतिहासकार कर्णनरेश मल्लिकार्जुन का हाथी बतलाते हैं अतः इस युद्ध में सोमेश्वर कुमारपाल की ओर से बड़ा प्रतीत होता है। किन्तु यह उनका भ्रम है उक्त युद्ध में गुर्जरसैन्य का प्रधान संचालक मंत्रीराज उदयन का पुत्र प्रचंड जैन वीर बाहड अपरनाम वाग्भट था। अतः जैन लेखकों ने उक्त युद्ध में जिस वीर का पराक्रम वर्णन किया है वह बाहड था, चाहड नहीं [२]। यह हो सकता है कि चाहड ने भी उस युद्ध में भाग लिया हो। इसमें यह बाधा है कि जब कि चाहड कुमारपाल का प्रतिद्वन्द्वी और विरुद्धी था तब वह उसकी ओर से कैसे लड़ा? हो सकता है कि क्योंकि चौहान गुर्जर युद्ध समाप्त हो चुके थे और दोनों राज्यों की शत्रुता अब संधि एवं विवाह संबंध के कारण मैत्री में परिणत हो चुकी थी अतएव सोमेश्वर फिर अन्हिलवाडे वापस चला आया हो। अजमेर में उस समय उसके तीन बड़े भाई और विद्यमान थे अतः चौहान राज्य का उत्तराधिकारी होने की उसकी कोई आशा या संभावना ही नहीं थी।

श्री बनर्जी ने एक और भूल की प्रतीत होती है। उन्होंने हेमचन्द्रकृत संस्कृत द्वयाश्रय काव्य में जो कि सिद्धराज के समय रचा गया था, वर्णित घटनाओं को कुमारपाल से सम्बद्ध कर दिया जब-कि उनका लक्ष्य सिद्धराज प्रतीत होता है। प्राकृत द्वयाश्रय अवश्य ही कुमारपाल के राज्यकाल

१ पृथ्वी० म० का०, सर्ग ७, श्लो० १५

२ हमारा० पूर्व लेख-जैन सम्राट् कुमारपाल

की रचना है और उसमें वर्णित घटनाएँ कुमारपाल से ही संबंधित हैं। तथापि जहां तक चाहड के उल्लेखों का सम्बन्ध है, दोनों ही ग्रन्थ प्रमाणिक एवं उपादेय हैं।

कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि चाहड के जो वर्णन जैन इतिहास ग्रन्थों में मिलते हैं उनमें तथा पृथ्वीराज महाकाव्य में लिखित सोमेश्वर के वर्णनों में अद्भुत सादृश्य है। दोनोंका अभिन्नत्व सिद्ध करनेवाली कई सुदृढ़ कड़ियां भी मिल जाती हैं, जिनका कि प्रस्तुत विवेचन में यथास्थान उल्लेख हुआ है। चौहान अर्णोराज का सिद्धराज व कुमारपाल के साथ संधिविग्रह, विवाह सम्बन्ध, सोमेश्वर का अपने नाना सिद्धराज के घर लालन-पालन, राज्य के लिये चाहड को तब कुमार कहना, सिंहासन पर उसका अधिकार एवं दावा होना, कुमारपाल से प्रतिद्वन्दता एवं शत्रुता, दोनों का ही हस्तिविद्या में सुदक्ष तथा वीर पराक्रमी योद्धा होना, चौहान गुर्जर युद्ध में चाहड का अनाक से जा मिलना आदि बातें इन दोनों व्यक्तियों का अभिन्नत्व सिद्ध करती हैं।

अब यह समस्या रह जाती है कि प्रबंध लेखकों ने उसे चाहड नाम से ही क्यों लिखा, किसी स्थल पर भी सोमेश्वर नाम का प्रयोग क्यों नहीं किया? इसका समाधान इस प्रकार है। कि चौहान का रूपान्तर 'चाहमान' होता है जिसका संक्षेप 'चाह' है, इसमें 'ड' प्रत्यय लगाकर 'चाहड' नाम बन गया ठीक उसी प्रकार जैसे कि चपोत्कट का संक्षिप्त रूप 'चाप' हो जाता है। तथा जिस प्रकार अनेक रानियाँ अपने पितृकुल के नाम पर ही पुकारी जाती थीं यथा चावड़ा रानी, बाघटे रानी, उसी प्रकार अपने नाना मामा के घर धेवते और भानजे भी अपने पितृवंश के अनुसार ही पुकारे जाते थे यथा परमाकुमार, गोहिल कुमार, जेठवा कुमार आदि। अतः इसमें क्या आश्चर्य कि सोमेश्वर भी पाटन में अपने नाना सिद्धराज के घर अपने पितृकुल चौहानवंश के अनुसार 'चाहडकुमार' कहलाया जाता रहा और उसके असल नाम सोमेश्वर का जो संभक्तया उसके पिता द्वारा रक्खा गया होगा, गुजरात के इतिहास लेखकों ने कोई उल्लेख नहीं किया। इसी प्रकार पृथ्वीराज विजय महाकाव्य के लेखक द्वारा चाहड नाम का प्रयोग भी असंगत होता।

अस्तु यह बात प्रायः निःसन्दिग्ध रूपमें सिद्ध हो जाती है कि अन्हिलपुर पट्टन के सोलङ्कीनरेश सिद्धराज जयसिंह का दत्तकपुत्र और गुर्जर सम्राट् कुमारपाल का प्रबल प्रतिद्वन्दी चाहड कुमार जो उसके साथ द्रोह करके उसके शत्रु पक्ष से जा मिला था, इतिहास प्रसिद्ध दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान का पिता तथा सपादलक्ष (अजमेर) के चौहान राज अर्णोराज का पुत्र स्वयं गुर्जरनरेश सिद्धराज जयसिंह का दौहित्र अर्थात् सोलङ्की राजकुमारी काञ्चनदेवी की एकमात्र सन्तान सोमेश्वर ही था।

साहित्य-समीक्षा

भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित ग्रन्थ

सर्वार्थसिद्धि (हिन्दी अनुवाद सहित):—संपादकः श्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री; मूल्यः बारह रुपये।

आरम्भ में सम्पादक की विस्तृत विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना है, जिसमें ग्रन्थ और ग्रन्थकर्त्ता के सम्बन्ध में सभी दृष्टियों से ऊहा-पोह किया गया है। प्रस्तावना-लेखक ने बड़ी छान-बीन के साथ तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रपाठ की सिद्धि की है। प्रसंगरूप से इस प्रस्तावना में अनेक विचारणीय बातें आई हैं। सर्वार्थसिद्धि में आये हुए अन्य शास्त्रों के उद्धरण स्थलों की विवेचना भी तुलनात्मक रूप से की गई है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि प्रस्तावना बहुत ही उपयोगी है। इसमें अनेक ज्ञातव्य बातों का समावेश है। दो-एक स्थल विवादपूर्ण भी हैं। उदाहरणार्थ वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वान् लेखक ने श्री मुख्तार सा० की मान्यता का खण्डन करते हुए उसे पुरातन तिलोयपण्णत्ति से भिन्न माना है। परन्तु प्रस्तुत तिलोयपण्णत्ति में गणित की सहस्रों बातें ऐसी हैं, जिनकी मान्यता सुदूर प्राचीन काल में प्रचलित थी। गच्छ, चय आदि के आनयन की प्रक्रिया बहुत प्राचीन है। इसी प्रकार वृत्त और आयत आदि के गणित प्रकरण भी पर्याप्त प्राचीन हैं। अतएव तिलोयपण्णत्ति के रचनाकाल को केवल लोक-रचना के आधार पर ही निर्णीत नहीं किया जा सकता। सभी दृष्टियों से ऊहा-पोह करने के उपरान्त ही इसका रचनाकाल निर्धारित किया जा सकता है।

ग्रन्थ के मूलपाठ को शुद्ध रूप में रखने का प्रयास प्रशंसनीय है। अनुवाद कतिपय स्थलों पर भावानुसारी है। यों तो विद्वान् अनुवादक ने पंक्ति-अर्थ को स्पष्ट करने का पूरा प्रयास किया है, तथा पंक्ति-अर्थ स्पष्ट है भी; किन्तु फिर भी अनुवाद शब्दशः न होकर भावानुवाद ही है। अनुवाद की भाषा सरल और स्पष्ट है। सम्पादक शास्त्रीजी और प्रकाशक ज्ञानपीठ साधुवादार्ह हैं, जिनकी कृपा से गम्भीर गुरुतर ग्रन्थ भी स्वाध्याय के लिए उपलब्ध हैं। ज्ञानपीठ का प्राचीन जैन साहित्योद्धार का यह कार्य नितांत श्लाघनीय है। यह ग्रन्थ स्वाध्याय प्रेमियों के लिए उपयोगी है। छपाई-सफाई, गेट-अप आदि बहुत अच्छे हैं।

कालिदास का भारत (द्वितीय भाग)—लेखकः श्री भगवतशरण उपाध्याय; मूल्यः चार रुपये।

उपाध्याय जी ने कालिदास कालीन भारत का विवेचन दो भागों में किया है। प्रथम भाग में कालिदास के आधार पर जनपद, राज्यसत्ता, सामन्त, अमात्य, राज्यकार्यागार और अधिकारी वर्ग का विवेचन करते हुए समाज का ढाँचा एवं वैवाहिक रीति-रिवाजों का विवेचन किया गया है। यह प्रथम भाग भी प्राचीन काल की भारत की सभ्यता एवं संस्कृति को अवगत करने के लिए उपयोगी है।

प्रस्तुत भाग में कालिदास कालीन ललित कलाओं की विवेचना की गयी है। विद्वान् लेखक ने ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ही कलाओं के उत्कर्ष और अपकर्ष पर प्रकाश डाला है। कालिदास के साहित्य के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि उनके समय में कविता, नाटक, संगीत तथा नृत्य का पूर्ण विकास और प्रचार था। विवाह और वसन्तागम के अवसर पर प्राचीन काल में अभिनय का आयोजन किया जाता था। प्रेक्षागृह और रंगमंचों की पूरी व्यवस्था थी। संगीत और नृत्य की उन्नति भी कालिदास के समय में अधिक थी। इनके अतिरिक्त चित्रकला, भास्कर्यकला, तक्षणकला और स्थापत्यकला का वर्णन भी किया गया है। कालिदास के समय में राजा-महाराजा कला के आश्रय दाता थे, राजमहलों में कला पलती थी, अतः उस समय सभी प्रकार की ललित कलाओं की उन्नति थी। इस पुस्तक के पंचम खण्ड में धन और समृद्धि, षष्ठ खण्ड में शिक्षा और साहित्य एवं सप्तम खण्ड में धर्म और दर्शन की विवेचना की गयी है। वर्णन शैली सरल, स्पष्ट एवं ऐतिहासिक है। लेखक ने अपने कथन की पुष्टि में ऐतिहासिक प्रमाण कम ही उद्धृत किये हैं। केवल अर्थशास्त्र के साथ ही तुलना की है।

कालिदास के ग्रन्थों में वर्णित भारत को जानने के लिए पुस्तक बड़ी उपयोगी है। उनके द्वारा निरूपित राजनीति, अर्थनीति एवं साहित्यकला-कौशल आदि को इस पुस्तक द्वारा सहज में जाना जा सकता है। हम लेखक को साधुवाद देते हैं, जिसने इस प्रकार की उपयोगी रचना हिन्दी साहित्य को दी।

धूप के धान—लेखक : श्री गिरजाकुमार माथुर; मूल्य : तीन रुपये।

प्रस्तुत कविता संग्रह के आदि में कवि का 'निवेदनम्' शीर्षक है, जिसमें नवीन कविता की समस्याओं और समाधानों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इस संग्रह की कविताओं को रुवानी गीतात्मकता, यथार्थ और रुवानी का समन्वय एव मानववादी बहिर्मुख भावधारा इन तीन मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है। तीनों भागों की कविताओं में काव्यत्व है। भाव, भाषा और काव्य सौष्ठव की दृष्टि से कविताएँ अच्छी हैं। चंदरिमा, सावन की रात, हेमंती पूनो, पूरब की किरन, तीन ऋतु-चित्र प्रभृति कविताएँ वर्णनात्मक हैं, पर हृदय को छूनेवाले तत्त्वों की कमी नहीं है। मिट्टी के सितारे शीर्षक की निम्न पंक्तियाँ जीवन में हल-चल उत्पन्न कर देती हैं :—

है दीप एक, पर मोल सूर्य से भी भारी
है व्यक्ति एक वर्तिका, दीप धरती सारी
देखो न दुखी हो व्यक्ति, उठे इंसानी लौ
वनखण्ड जलाती सिर्फ एक ही चिनगारी

हे झंझा पथ, पद आहत, दीपक मद्धिम है
संघर्ष रात काली, मंजिल पर रिमझिम है
लेकिन पुकारता आ पहुँचा युग इंसानी
दो कदम रह गया स्वर्ग, चढ़ाई अंतिम है

कविताएँ जीवन में ज्योति जलानेवाली हैं। पाठकों के हृदय-तार झंकृत हुए बिना न रहेंगे। संग्रह अच्छा है, छपाई-सफाई अच्छी है।

ध्वनि और संगीतः—लेखक : श्री प्रो० ललितकिशोर सिंह एम० एस सी०; मूल्यः चार रुपये।

ध्वनि और संगीत शास्त्र पर इस प्रकार की अन्य प्रामाणिक कृति हिन्दी में अब तक प्रकाशित नहीं हुई है। आरम्भ में कंपन और आवृत्ति का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। लेखक ने विषय को रुचिकर बनाने के लिये चित्र भी दिये हैं। कंपन किस प्रकार होता है तथा यह ध्वनि कंपन हमारे कानों तक किस प्रकार पहुँचता है, इसका भी विवेचन किया गया है। ध्वनियों की चक्रता, तरंग, वैग, तार-तम्यत', तीव्रता, अनुनाद, स्वर-ग्राम, स्वर-संवाद एवं स्वर-संघात पर वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि अंग्रेजी भाषा में इस प्रकार की रचनाओं की कमी नहीं, पर हिन्दी में यह पहली ही कृति है, जिसमें विज्ञान-सम्मत विश्लेषण किया गया है। प्राचीन स्वर-संग्राम, मध्यकालीन स्वर-संग्राम और आधुनिक स्वर-संग्राम का विश्लेषण सोदाहरण किया गया है। नाद, ध्वनि, रव का विवेचन भी मनोहारी है। संगीत शास्त्र के स्वर, उनके उतार चढ़ाव तथा ताल-लय आदि पर प्रकाश डाला गया है। ध्वनियों के उत्पत्ति-स्थान, उत्पत्ति का क्रम एवं उनके रूप-सौन्दर्य का निरूपण भी महत्वपूर्ण है। शास्त्रीय दृष्टि से यह रचना अत्युत्तम है, लेखक ने हिन्दी को यह अपनी अनुपम देन दी है। इस प्रकार की श्रेष्ठ रचनाओं से ही हिन्दी साहित्य का मस्तक गौरवान्वित हो सकता है। जिज्ञासुओं को इस रचना से लाभ उठाना चाहिए।

—नेमिचन्द्र शास्त्री

पहला कहानीकार—ले० श्री रावी; प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, काशी; मूल्य ढाई रुपया।

लेखक के अनुसार—'किसके लिये' ? 'पत्नियों का द्वीप', 'उजाड़ पत्थर' और 'पाप का पुण्य' के बाद यह 'पहला कहानीकार' मेरी लम्बी कहानियों का पाँचवाँ संग्रह है। पुनः इस संग्रह के सम्बन्ध में लेखक की अपनी सम्मति—'दूसरे संग्रहों की अपेक्षा, मेरी इस नव-उपार्जित 'लघु कथा' की शैली और रूप का आभास अधिक स्पष्ट मात्रा में झलक आया है, —भी इस संग्रह के सम्बन्ध में एक स्वतंत्र धारणा है और लेखक के शिल्प-विधान के क्रमिक विकास को समझने-समझाने में सहायक है।

आजका नवोदित कथाकार कहां है ? क्या है ? किस ओर है—यह सामयिक प्रश्न अपना जोर पकड़ रहा है। आज के कथाकार की आख्यान-मूलकता का यह स्वाभाविक हठवाद है कि वह अपनी अभिव्यक्ति के क्षणिक नुकीलेपन, पेंचदार शैली के आकस्मिक प्रयोगों के द्वारा पाठक को अभिभूत कर लेना चाहता है। थोड़ी देर तक पाठक की सहानुभूति उनकी अभिव्यक्ति के साथ टिक पाती है पर अन्ततः वह गुदगुदी अपना समग्र प्रभाव बिखेर देती है। समूची कहानी को पढ़ने के उपरान्त हाथ लगती है एक झुंझलाहट, चरित्रों और भावों की एक दुरुह अस्पष्टता निश्चय ही यह कथा-साहित्य पर आधुनिक प्रयोगात्मता का प्रक्षेपण है। कहानी जन-मानस की स्थायी निधि है—वह जीवन के अधिक निकट है और कहानी के शिल्प-विधान की वह प्रगति जीवन पर अपने प्रभाव की अन्विति कर पायगी या नहीं यह संदेहास्पद है। शिल्प-विधान की सूक्ष्मताओं और नवीनताओं से कहानी समृद्ध हो जाय यह कहाँ तक कुछ स्वीकार्य हो सकता है; जबकि वस्तु के नाम पर हमें कुछ भी नहीं प्राप्त हो। कहानी की वर्त्तमान प्रगति के प्रति यह निराशाजनक दृष्टिकोण नहीं—बल्कि वस्तुस्थिति का यथार्थ निरूपण है। नई अभिव्यंजना का स्वागत है विकास और स्थापत्य दोनों दृष्टियों से—पर उसकी प्रभावशून्यता का मार्जन हो वस्तु और जीवन-मूल्यों के प्रति एक समरूप एकान्तिक आग्रह रखकर।

निश्चय ही 'पहला कहानीकार, में इस निराशावादिता में एक संतोष और आस्था के दर्शन होते हैं। हम यों कह सकते हैं—इसका सब कुछ नूतन है—कही हुई वस्तु भी, कहने का ढंग भी। पर यह कथन सबको मान्य नहीं हो सकता। 'रावी' आज की परिष्कृत रुचि के साथ पैठ नहीं पाते, भले ही वह अपनी कहानियों की वर्णनगत सरलता और कथावस्तु के नये उपादानों के संग्रह के द्वारा, जो अपने चुनाव में मौलिक है और चित्रण में आदर्श, पाठक से समझौता कर लें। इसको हम रावी की मौलिक सफलता कहें या उनकी अप्रसन्न असफलता। निश्चय ही 'मौलिक सफलता' और यहाँ ऊपर के वाक्यों की दूसरी मान्यताएँ खंडित हो जाती हैं। कोई भी गंभीर चिन्तक इस बात को इस संग्रह में माप सकता है और ऐसा द्वन्द्व उठना स्वाभाविक हो सकता है। रावी के सम्बन्ध में यह असमंजस उनकी अनुपम सूझ और उनके अन्दर एक अपने प्रति पूर्ण आस्थावान कथाकार के पनपने का सूचक है।

'पहला कहानीकार' की सभी कहानियाँ अपने प्रभाव में सरल और वर्णन में व्यावहारिक है। कहानियों का प्रारंभ एक शांत, सुचिन्ति ढंग से होता है और अंत तक जाते-जाते पाठक की चेतना का कथाकार की चेतना के साथ पूर्ण सादृश्य हो जाता है। अधिकांश कथानक प्राचीन जीवन और विचारों से सम्बद्ध हैं। 'पहला कहानीकार' इन्द्र, ब्रह्मा, बृहस्पति तक को अपने कथानक में चित्रित करता है। एक नवीन-क्रम-भंगी के द्वारा सिद्ध किया गया है कि "कल्पना उसका कार्योपकरण है और कहानीकार उसका जातिवाचक नाम है। पहला कहानीकार ब्रह्मा का

सर्व प्रथम सह-निर्माता है।" इस प्रकार अधिकांश कहानियाँ एक न एक मान्यता की स्थापना करती सी दिखाती हैं। "कैश बुक के पन्ने" जैसी कहानियाँ यह और लिखें। इस कहानी में मानव जीवन बचपन से लेकर बुढ़ापे तक मन का क्रमिक विकास, अनुभूतियों का प्रस्फुटन और उनकी तज्जन्य प्रतिक्रियाओं का सुन्दर विवेचन है। संक्षेप में सभी कहानियों की अनुभूति नई है और आदर्श के प्रति एक गहरा आग्रह है। आदर्श चित्रण रावी की इन कहानियों की प्रमुख विशेषता है जो आज की कहानियों में नहीं मिलती। आदर्श-चित्रण की प्रणाली नई है। कहानियों का वातावरण अपना है।

कहानियों की शैली लघु है। पर शैली की यह लघुता आजकी अन्य कहानियों से भिन्न और मौलिक है। छोटी कहानियों में बड़ी बात कही गई है। हम रावी के इस विकास से आशावान है। ऐसी कहानियाँ वे लिखें, जरूरत है।

छपाई, गेटअप आदि सुरुचिपूर्ण हैं।

—श्रीराम तिवारी बी० ए० (ऑनर्स)

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XX JUNE, 1954. No 1

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. Jyoti Prasad Jain, M. A., LL. B.
Sri, Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.
Pt. Nemi Chandra Shastri, Jyotisacharya

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH BIHAR, INDIA.

Annual Inland Rs. 3. Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS

		Pages
1.	Influence of Jainism on a unique image of Yoga-Narayana from Rajaputana. —Sri R. C. Agrawala M. A.	1
2.	Some Tales of the Brhatkatha Kosa, their originals and paralles —Sri Kalipada Mitra M. A. LL. B.	4
3.	Syadvada on Epistemological Solution of World Tension —Prof. Ramjee Singh M. A.	22

Yoga-Nārayaṇa image of Jodhpur Museum

ॐ

The JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "
[अकलंकदेव]

Vol. XX
No I

ARRAH (INDIA)

June
1954

" INFLUENCE OF JAINISM ON A UNIQUE IMAGE OF YOGA-NĀRĀYAṆA FROM RĀJAPUTĀNĀ "

By
R. C. Agrawala, M. A, Superintendent
Archaeology & Museums, Jodhpur (India).

Indian scholars have published a lot of material pertaining to the stone images of *Yoga-Nārāyaṇa* so far discovered in different parts of India.[1] In such sculptures, Viṣṇu (a prominent deity of the Hindu pantheon) is to be seen sitting with his lower hands in a meditating posture[2] while the upper two hands carry his usual weapons[3] (*āyudhas*).

The Sardar Museum at Jodhpur[4] (Rājpūtānā) contains a black stone image (brought from Ḍiḍawānā [5] Jodhpur division) depicting

1. Cf T. G Rao, *Elements of Hindu Iconography*, Madras, I (i) pp. 85ff; J. N. Banerjee, *Journal of the Indian Society of Oriental Arts*, Calcutta, XIII, pp. 89-95; C. Śivaramamūrti, *Ancient India* (*Bulletin of the Archaeological Survey in India*), New Delhi, VI p. 4 plate XII A,B.

2. Also called as *vaddhapadmāsana* (or *Yogāsana*) *mudrā*.

3. They usually include the mace, the conch, the lotus and the wheel.

4. The writer of this paper now happens to be the Superintendent of this Museum.

5. Situated in *tahsīl* Diḍawānā of District Nāgour.

the *Yoga-Nārāyaṇa* device in a unique way.[6] This sculpture belongs to the early mediaeval period[7], somewhere towards the middle of ninth century A. D. It measure about 18 inches in height and 13 inches in breadth and shows happy signs of perfect preservation.

In the sculpture, under study, four handed Viṣṇu has the palm of his lower two hands placed one over the other (between the soles of feet) in a traditional manner. They have covered the naval portion of the deity altogether. Underneath the legs of Viṣṇu hangs the garland which rests on the upturned lotus throne. Just below this lotus-throne, two persons (facing each other) are looking at the deity with their hands folded To the right and left of these devotees have been carved the *siṃhavyālas*; and just above them the *makara-vyālas*, the *aśva-vyālas* and the *gaja-vyālas* in a descending order.

Viṣṇu himself wears the tiara (*kirīṭa mukuṭa*) on his head, sacred thread on the body and some ornaments round the neck, ankles, arms, ears etc. There is also a *śrīvatsa* mark in the middle of the chest. Behind the head of the deity appears a hallow encircled by 13 hoods of a snake. On both the sides of the deity appear the flying *gandharvas*, very keen to garland the meditating deity seated below.

The most remarkable feature of the above image is the *presence of the garland in both the upper hands of Viṣṇu.* The weapons[8], usually held by Viṣṇu, are not to be seen anywhere in this sculpture That is the reason why the above image of Jodhpur Museum stands unrivalled in the realm of ancient Indian art Most of the details of this image are somewhat akin to those presented by D. 37 image (of *Yoga-Nārāyaṇa*) preserved in the Archaeological Museum at Mathurā.[9] But the garland upheld in the upper hands is conspicuous

6. Cf. My paper in the *Journal of the Museums Association of India*, Bombay, 1953, IX, pp. 104-5, plate XXII, figure 46 facing p. 104.

7. Dr. H. Goetz (during a personal talk at the Oriental Conference held at Ahmedabad in November 1953) too agrees with this view.

8. As a matter of fact we even expected any of these weapons either below the lotus throne or in the hands of the persons seated below

9. This sculpture has been illustrated by Dr. V. S. Agrawala, *Handbook of the Sculptures in the Curzon Museum of Archaeology Muttra*, 1939, Allahabad, Plate XXII, figure 45, *ibid*, pp. 56, 60.

by its absence even in the sculpture of the Mathurā Museum. Numerous *Yoga-Nārāyaṇa* images have been recovered from various parts of Rājpūtānā too but none of them stands in comparison with the one from Ḍiḍawānā (as discussed above).

It now remains to be searched under what literary initiative did the sculptor of Rājaputānā fashion this unique image altogether in an untraditional manner ?

It is also essential here to scrtunize the contents of an epigraph (dated 1161 A. D.) from Nāḍol (Jodhpur Division). This inscription[10] refers to a harmonious relationship as existed between the members of the Jaina community and the followers of the Brahmanic faith. This is evident from the fact that Viṣṇu, Brahmā and Śiva[11] have all been called as *Jinas* ie. adherers of Jaina philosophy. There is no wonder then that the members of the local Jaina and Brahmanic communities got the above image of Viṣṇu fashioned in such a manner as to suit the taste of all and to serve the purpose of being worshipped by the non-Vaiṣṇavas too. That may account for the utter absence of the weapons of Viṣṇu in the above image. The image thus might have become an object of common worship for any devotee who believed in the efficacy of meditation and idol worship Nay, it could even prove worth adoration at the hands of the staunch followers of Śiva, Buddha etc. But the new device appears to have been invented under the influence of Jainism alone which was quite popular in Rājasthān in the mediaeval period. Perhaps the Vaiṣṇavas did not even hesitate in departing from the traditional mode of carving the *Yoga-Vārāyaṇa* images. It is to be searched further whether any literary text allows the carving of this type of images in altogether a unique way, as has been put forth by the above sculpture of the Jodhpur Museum.

10. *Epigraphia Indica*, IX, pp. 67-8.

11. Cf. *Progress Report of Archaeological Survey* (*Western Circle*), Poona, 1905, p. 55 referring to the following statement :—"On the dedicatory blocks of many Śaiva temples in Rājapūtānā, Śiva is figured like a *Jina*. This ts an interesting feature of Brahmanical iconography which requires to be carefully and thoroughly studied."

"The Museum at Indore contains an interesting image (of Yogeśwara Śiva) which looks like that of Riṣabhadeva; Cf. *The Jain Antiquary, Arrah*, XVIII (ii), pp. 1-5."

SOME TALES OF THE BṚHATKATHĀKOŚA, THEIR ORIGINALS AND PARALLELS

By
Sri Kalipada Mitra, MA , LL.B.

Hariṣeṇa's *Bṛhatkathākośa* has been edited by Dr. A. N. Upadhye in Singhi Jain Granthamālā, Bombay. Dr. Upadhye thinks that Hariṣeṇa finished the work in A. D. 931-32. In the introduction (p. 90) of his edition he observes: "Hariṣeṇa's treasury contains the biggest number of tales ...it is the earliest in time....and lastly the correspondence of its stories with the gāthās of the Bhagavatī Ārādhanā is more extensive and perfect, and thorough in sequence. It is really unfortuate that no Ārādhanā-Kośa earlier than that of Hariṣeṇa has come to light, so for the present there is no evidence to assess his indebtedness to his predecessors." I am selecting just a few tales from the *Bṛhatkathākośa* by way of examining his opinion regarding Hariṣeṇa's indebtedness.

I. ŚREṆIKA-KATHĀNAKAM (No. 55.)

There are some items in this tale that can be traced to the *Nandīsūtra*, an ancient Jaina canonical text, and even these relevant items of the *Nandīsūtra* itself can be traced to the *Nāyādhammakahāo.*[1]

1. I am using the following abbreviations for works consulted :
B-K—Bṛhatkathākośa of Hariṣeṇa.
F.S.P —Folklore of the Santal Parganas by Bompas.
F.T.K.—Folk Tales of Kashmir by the Rev. J. Hinton Knowles (London, Trubner Co., Ludgate, 1888)
Jāt —Jātaka
Nāyā—Nāyādhammakahāo or the Jñātadharmakathāṅgaṃ, Āgamodaya-samiti Edition)
NSC—Nandīsūtra Commentary by Malayagiri
RTP—Romantic Tales of the Panjāb
ŚK—Śreṇika-kathānakam
T. P. - Tales of the Panjab by Steel
TT—Tibetan Tales by Schiefner and Ralston with introduction by Mrs Rhys Davids, Broadway Translation, 1928. Prof. Schiefner "translated them from *Kāh-gyur*, all the legends and fables of which are merely Tibetan versions of Sanskrit writings introduced into the country in the 12th and 13th centuries." The tales in Sanskrit writings were mostly derived from Pāli-Buddhistic literature, especially the Jātakas

I have also found in some items of *Ś-K* striking parallels in tales Indian, Arabian, Tibetan and European.

MOTIF OF QUASI-IMPOSSIBLE TASK IN Ś-K.

Prince Abhayakumāra comes to the village Nandagrāma and solves for the villagers perplexing riddles (in the manner of Rohaka in *NSC* and Mahosadha in Jāt no. 546) in which are couched royal orders which apparently seem incapable of being executed. The King becomes angry and orders him to come to him in the following wise :

Mā divā mā rajanyāṃ ca mā pathā mā bhuvā khalah ।
Yāne nāyaṃ suduṣṭātmā turṇametu madantikaṃ ॥

i.e. "Let the wicked one come to my presence immediately, but not by day nor by night, not by road nor by earth, nor by any other vehicle; unless he does so, I will kill him, and the villagers of Nandagrāma."

Tato'bhayakumāro'pi sandhyākāle mahāmati ।
Gaddhikā lambikārūḍho jagāma Śreṇikāntikaṃ ॥

"Then the wise Prince Abhayakumāra came to the presence of King Śreṇika in the evening riding on a ram (or goat) in the middle space between the wheels of a cart."

Here the Sankritised form *gaddhikā* stands for Prakrit *gaḍḍiā*, a cart, and *gaḍḍariyā*, a goat (or ram).

The above incident has been fully related by Malayagiri in his commentary on the *Nandīsūtra*, his expression corresponding to *gaddhikā lambikārūḍha* being "*gantrīcakrasya madhyabhūmibhāgena ūraṇamārūḍho*" (p. 147a—Āgamodaya ed. Bombay, 1924) meaning "riding a ram or goat in the middle space between the wheels of a cart."

The following version appears in the *NSC* in all embellishment :

Then the Raja summoned Rohaka in this wise: "Let the boy who has executed all my orders by his wisdom come to me, but he must not come in white or black fortnight, by day or night, in shade or in the sun, neither by air nor on foot, neither by the usual path nor unusual, neither having bathed nor not having bathed." When Rohaka heard the order he bathed his neck, and occupying the middle space between the wheels of a bullock cart rode a ram, held

a sieve as an umbrella, and came to the king in the evening at the conjunction of *amāvasyā* (new moon) and *pratipat* (the first lunar day.)

Earlier Rohaka executed the following order of the king: "Cook pāyasa (milk-rice) without the agency of fire." Rohaka gave this advice: "Pound the rice finely with water, heat well cowdung cake, straw etc. in the rays of the sun, and on the mass so heated place the dish containing milk and the pounded rice for time enough to cook into *paramānna*." This corresponds to Test no. 14 in Jāt no. 546 —"The boiled rice.":—"The people of the East Market Town must send us some boiled rice cooked under eight conditions, and these are—without rice, without water, without a pot, without an oven without fire, without firewood, and without being sent along a road, either by man or woman etc." This incident of the Jāt tale reappears in a developed version in TT (pp. 138-39) in the following guise: "The King orders Purna to supply some rice which had not been crushed with a pestle and yet was not uncrushed, and which had been cooked neither in the house nor out of the house, neither with fire, nor yet without fire, sending it neither along the road, nor yet away from the road, without its being shone upon by the daylight, but yet not in the shade, not together with a woman, but also not with a man, by one not riding, but also not on foot." Mahauṣadha caused the grains to be shelled by nails of women, put into a pot cooked in the sun on the threshold, and the pot covered over with a thin cloth and fastened to the end of a stick was carried by a hermaphrodite who wore shoe on one foot only and walked with one foot on the road, and the other by the road."

[We have in the Hindu mythology the conferring of an apparent-immortality-boon (e.g.) on Hiraṇyakaśipu, father of Prahlāda, that he will not be killed by day or night, on earth or not on earth, by man or animal, by any weapon etc and yet his death was compassed by Narasiṃha, the Man-Lion avatāra of Viṣṇu, who burst out of a crystal pillar in the evening, and placing him on the thigh, plucked out his entrails with nails etc.]

Incidentally I have to observe here how an author in his Sanskrit version of a tale in Prakrit gives a Sanskrit complexion to a Deśī or Prakrit word (an instance of back formation); e.g. in this case *gaḍḍiā* (cart, *gaḍḍī*, *gāṛī*) has been sanskritised into *gaddhikā* which in turn

may be taken by an unsophisticated person to be the respectable form for *gadhā* or donkey ! And in all probability Hariṣeṇaś *gaddhikā* may have inspired the suggestion of a similar situation in an Arabian tale from Fez, named *Carpenter's Daughter*, where (Test no. 1) the Sultan says : "You must come to me at the same time mounted and on foot, and weeping and laughing at the same time." The solution provided was : "Get a little donkey, such a one as can walk between your legs without your sitting on him. And for the second order, apply onion to your eyes and weep."

The tale is included in the *Tales of Fez* (published in the *Eastern Love Series*, Vol. no. 4) from the Arabic by E. Powys Mathers. I quote the following lines from the Introductory Note : Of the ten Tales of Fez the first nine are selected and translated from *Contes Fasis*, an admirable volume in which M. E. Dermenghen, a young anthropologist and writer of considerable talent and Mohamed El Fasi have made (taking them from the lips of the latter's grandmother) a collection of simple fairy stories quite peculiar to the city of Fez. Their book is the only one which has been written out of this material. The tradition of these tales is an entirely amateur one, and is said to be dying out, they are told in the household at evening, nearly always by women, and though ostensibaly addressed to the children of the house, make a strong appeal to all adults."

Notwithstanding what has been said about the peculiarity of these tales and their tradition, I have found their parallels in Indian tales and I strongly believe that they migrated from India.

In the afore-mentioned *Carpenter's Daughter* the girl shows remarkable intelligence in solving riddles and deciding issues and so pleases the Sultan that he marries her. She answers to her proto-type, Amarā (ther iddle-unlocking maiden), whom Bodhisattva Mahauṣadha marries (Mahā ummagga Jat. no. 546.)

It may seem rather incongruous to introduce here the laughing-and-weeping motif[2] and make it nestle in a single sentence with the task-motif, and the fix is got over by applying onion to the eyes to force tears ! And the naivete of the remedy appears when we con-

2. A stock motif-Cf. Jat. I, 52; the *Four Princes* pp. 434-35 in **FTK*; RTP (p. 161); *TP* (pp. 243 ff) etc.

sider its probable origin in Jat. no. 546 where Amarā explains why she laughs and weeps: Sā Mahāsattaṃ mahāsampattiyaṃ ṭhitam na sañjāni, oloketvā ca pana hasi ceva rodi ca. So ubhinnam pi kāraṇaṃ pucchi. Atha naṃ sā evam āha: "Sāmi, aham hasamānā tava sampattim oloketvā ...aho puññānaṃ phalam nāma'ti hasim, rodamānā pana 'idāni parassa rakkhita-gopitā vatthumhi aparajjhitvā Nirayaṃ gamissatīti tayi kāruññena rodin'ti.

But this is not to be wondered at. Such an ancient tale as the Jātaka must have gone in course of time through a varied deciduous process and one item of the tale in a strange permutation was at a later time transported from India to Fez by some trader—of Fez or India.

MOTIF-INTELLIGENCE-TEST IN BRIDE CHOOSING.

To test the intelligence of a girl with a view to find out whether she would make a suitable partner in life is a familiar motif. The *modus operandi* is to converse with her in an enigmatic or paradoxical way, or propound riddles to her and see whether she understands the enigma or the riddle and returns the right answer. The earliest instance of this device I have come across is to be found in the said Jātaka when Mahosadha goes out, finds the beautiful and auspicious-mark-bearing Amarā, the daughter of a poor *śreṣṭhi*, who rightly understands the sign language and otherwise passes inteligence tests, and ultimately marries her.

We have seen how conundrums were tackled by Rohaka and his congener Abhayakumāra in Jain versions, as well as by Mahosadha in Jātaka and its derivative in TT (Mahauṣadha and Viśākhā) and that brides pass intelligence test e.g. Amarā and the Fez girl. Now here is a Lithuanian tale, a near though thin parallel of the Tibetan tale: "A gentleman promises to marry a village maiden if she can fulfil certain conditions: If you come to me neither clothed nor bare, nor riding nor driving, nor walking, not along the road, not beside the road, nor on the footpath in summer and likewise in winter and then I will marry you."

The Sultan in the Fez tale sets two other tests to the Carpenter's daughter which undoubtedly prove their Indian origin.

Test no. 2. The Sultan ordered a robe to be made out of a block of marble. The Carpenter's daughter gave the advice: "Request

the Sultan to send some threads of sand to sew the robe with, "for sample." This is obviously suggested by Test no. 15 of Jat 546 where we find Mahosadha advises the villagers to request the King to send as sample some old ropes of sand. In *TT* Purna is advised by Mahauṣadha to request the King to send as sample a rope of sand, similarly in *NSC*.

Test no. 3. One day the Sultan had to judge between two men who were disputing over a newborn foal The one owned a gelding, the other a mare, and both animals dwelt in the same stable with each of the men looking after them in alternate days. "My mare was full", said the plaintiff, "and on the day she was due to bring forth, it was my comrade's turn to look after the stable. When I entered in thc evening I saw the newborn foal under the gelding and not under my mare. O Commander of the Faithful, does it not nevertheless belong to me in spite of the perfidious substitution ?" The Sultan gave the judgment: "The foal belongs to the man under whose beast it was found, you may retire." The aggrieved suitor was advised by the Carpenter's daughter to complain that fishes ate up the young shoots of grain he sowed in a field. When the Sultan said, 'Do fishes eat grass?' he replied: "But do geldings bring forth ?" Of this tale we find many parallels in Indian folk lore. The exact parallel occurs in *FTS* story of *Changed Calf*. (no. XII). I have thoroughly discussed the "impossibilities" motif in *JBORS* (Vol. XII, pp. 561 ff) where I have cited Test no. 13 (Jat. 546), the Orissan folk tale *Bitua Nana*, Ho (*Dāḳua*), Swynnerton's *Indian Nights Entertainments* (the traveller and the oil man), Stumme's *Tunische Marchen*, Grimm's *Die Kluge Baurentochter*, Kaden's *Unter den olivenbaumen* etc.

In *Ś-K* we find that Abhayamatī, the intelligent daughter of Somaśarmā, elucidates some unintelligible questions that Śreṇika put to her father whereupon Śreṇika is impressed by her intelligence and marries her.

Śreṇika proposes to Somaśarma :

Māṃ skandhena vaha tvaṃ bho tvāṃ vā pathi vahāmyaham ।
Anena ca vidhānena mārgo gamyo bhaved dvija ॥

[Carry me on your shoulder, or shall I carry you, on the road ? In this wise the road will be easily travelled, O Brāhmaṇa."]

Somaśarmā takes Śreṇika to be a *gahillaḳa* (i. e. one possessed by

demons) and talking incoherently, Abhayamatī explains that Sreṇika means :

Vipra me brūhi cittastham śobhanaṃ hi kathānakam ।
Ahaṃ vā te gadāmīti sukhena pathi gamyate ॥

[Tell me, O Brāhmaṇa, some pleasant story that may be in your mind, or shall I tell you one such so that we may have a pleasurable journey ?]

This motif is found in other Indian tales, e.g. in *FTK*, *FSP* (The Bridegroom who spoke in riddles, no. LXXXIX) etc., also in an Arabian tale mentioned below.

A. Will you carry me or shall I carry you ?

(a) *FTK* has : "Don't you think it would be pleasanter if you and I sometimes gave one another a lift ?"

(a 1) *FSP* has : Kora sets out to find his wife. He travels with an old man and talks to him, "Let us take in turns to carry each other, we shall neither of us get tired and shall do the journey more comfortably."

B. In *ŚK* :

Pathī kṣetraṃ vilokyāyaṃ Kumāro vadati sphuṭam ।
Kṣetrapālaka kiṃ kṣetraṃ bhakṣitaṃ bhakṣayiṣyate ॥

[On the way, the Prince sees a cornfield and speaks out : "Will the owner of the field eat the eaten field ?]

The girl explains :

Adhunā kṣetravākyasya nigadāmi tatvārthakaṃ ॥
Yadi bhaktaṃ samādāya parakīyaṃ hi yujyate ।
Tato bhakṣitamevedaṃ kṣetraṃ janaka mūlatah ॥

[Abhayamatī says : "Now I will unfold the true import of the question regarding the field, 'If he has already taken the rice and tills the land which thus belongs to another, then, O father, the field has already been eaten at the root.']

FTK has : The meaning is—'If he has been a debtor, the produce is as good as eaten to him, i. e. it would have to go to his creditor.'

In the *TT* story of the *Dumb Cripple* (which I strongly believe to be the Tibetan version of the Muga-pakkha-jātaka, no. 538) the Prince remarks : "If this heap of grains were not continually devoured at its base it would become great" and explains : "The tillers of the

soil, after they have borrowed corn and have used it are obliged to give a large heap of corn; therefore they consume it at the base."

The Arabian tale referred to occurs in the *Ninety Short Tales of Love and Women from the Arabic* being the Eighth volume of Eastern Love Series (English version by E. Powys Mathers, 1928): Tale no. 74 —*A Suitable Couple*, wherein Al-Sharki tells the following :

Among the most subtle and intelligent Arabs of his time was a man named Shann "By Allah," he said, "I will wander until I have found my equal for a wife." As he was on his journey, he met a man and asked him where he was going. The other replied that he was going to such and such a place, naming a village to which Shann himself was making. So the two travelled together, and as they went, Shann said, "Will you carry me, or shall I carry you?" "You are a fool", the other replied, "I am mounted and so are you, how then can I carry you or you me?" Shann fell silent and they went on until they saw a harvest ripe for the reapers Then said Shann : "Do you think this harvest has been eaten or not eaten?" "Fool", answered the other, "you see a harvest ripe for the reapers, how then could it be already eaten?" Shann remained silent until they were at the entrance of the village and met a funeral procession. Then he asked, "Do you think the corpse is dead or not dead?" Shann's host had a daughter named Tabakah. "O father", said the girl, "this is no fool. When he asked whether he should carry you or you him, he meant, would you tell him a story to shorten the way or should he tell you one? Regarding harvest he meant to ask whether or not the owner had already sold it and eaten the price of it. Regarding funeral whether or not the dead man had left a posterity to keep his name alive." Shann took the girl into his family. When folks saw them they rose to say, 'A Tabakah for a Shann', the expression passed into a proverb.—Al-Mafaddal, kitab-ul-Fakhir.

Regarding the third question about the funeral, the *FTK* and *RTP* have a slight variation in that a question is asked by the hero when entering a city whether it is a cemetery or not being as silent as the grave. I have not found any Indian parallel, Jain or Buddhist; but in the Tibetan tale *Dumb Cripple* occurs the enigma: "The Prince saw four men carrying a corpse and said : "Is the corpse that of a dead man or of a living man? (p. 249)", and explained : "The corpse

of him who has committed a crime is the corpse of one who is dead, but the corpse of him who has accomplished a good action is the corpse of one who is alive."

It is evident that both the Arabian and Tibetan tales have been derived from a common Indian original which will come to light on further investigation. I have traced some other Arabian tales in the Eastern Love series to their Indian originals.

I am citing from *ŚK* some other examples of intelligence test.

(a) The King orders the villagers to bring a well (baṭa-kūpa) to him.

Vaṭakūpo bhavadgrāme laghumṛṣṭa jalastarām ।
Vidyate śrutamasmābhistamānayata matpurā ॥Śl.116॥
The villagers were advised to return the answer :
Asmābhi sarvathā prokta vaṭakūpo nareśvara ।
Yāhi tvaṃ svāminamasmākaṃ samīpaṃ na ca yāti sah ॥Śl. 123॥
Nandagrāmeṇa sarveṇa tathoktamapi na gacchati ।
Tālam datvā tadā so'yaṃ Nandagrāmād vahiṣkṛtah ॥124॥
Vaśikaraṇamadhye tu samaśte vasudhā tale ।
bhavanti yoṣitah puṃsāṃ vaśikaranamuttamam ॥125॥
Evaṃ so vaṭakupo'pi bhūpa kūpikayā vinā ।
Ānetum mattahastīva tvatsamīpaṃ na śakyate ॥132॥

So they asked the King to send as a decoy a svacchamṛṣṭajala-pūrṇā lalitā varakūpikā (a charming she-well) to seduce the Vaṭakūpa to come to the King. Harişeṇa has given an amorous touch to improve on the original The *NSC* has this :

A few days later the King sent the following order : "In your village exists a well full of sweet water, send it soon to me." Rohaka advised the following reply to be sent : "This well, sir, is a village well (i. e. rustic). Villagers are naturally timid and have no faith in any one but their own kindred; so kindly send some city well, so that believing in him he may come with him."

Compare with it Test no. 16 in Jat 546—'The Tank' :

The following counterquip was devised. Some were asked to say : "Sire, inasmuch as your majesty has ordered the people of the East Market Town to send you a tank, we brought a great tank to suit your taste, but she being used to a life in the forest, no sooner saw the town with its walls, moats and watch towers than she took fright

and broke the rope and off into the forest. Give us then the old tank, we will yoke them together and bring the other back."

(b) The King (Śreṇika) orders the village to be placed to the west of the vaṭa-kūpa; and the order was executed thus:

Tatah paścimadigbhāge nṛpavākyena vegatah |
sthāpito vaṭakūpasya Nandagrāmo dvijerayaṃ ||153||

The *NSC* has this: Then again after the lapse of a few days the King sent another order: "The forest lying to the east of the village must be brought to its west." Here again following the advice of Rohaka the village moved to the east of the forest which was consequently placed towards its west.

The Jātaka Test no. 17 answers to the above. In the *TT* there is a curious mixture of tank and park with the above mentioned characteristics. Here Puṇṇa was ordered to supply a park with kitchen gardens, fruit trees and tanks. Mahauṣadha requests the King to send hither one of the parks belonging to the palace as no one among the mountains knows anything about a park of that kind.

There are some other items in the *ŚK* regarding the birth of Abhayakumāra, his naming, his quest of his father, further test of intelligence etc. which have remarkable similarity to *NSC.* and *Nāyā.*

Now under the heading of Khuḍḍaga (ring), the fourth tale in the *autpattikī buddhi* series of tales in *NSC* we get the following (in summary):

Śreṇika, son of Prasenajit, King of Rājagṛha, not getting sufficient consideration at the hands of his father, becomes dejected and leaves the country in disguise. By and by he comes to the city of Bennataṭa, and sits in the shop of a śreṣṭhī of slender means. The latter having chanced to make a rich bargain attributes his good fortune to Śreṇika, brings him to his house as a guest (pāhūna), and ultimately gives his daughter Nandā in marriage to him. After a few days Nandā conceives. Meanwhile Prasenajit perceiving his end to be fast approaching sends officers to Śreṇika bidding him return immediately. Thereupon at the time of leaving Nandā Śreṇika gives her a tablet on which he inscribes the following message: We are cow-herds (employing a word having the double entendre of King, gopāla or such) having residence at Rājagṛha possesing white walls (paṇḍara-kuḍḍā); if you have need of us, come." [In *ŚK* we have :

Bhūyo bhāryādvayaṃ prāha Śreṇikaḥ prītimānasaḥ ।
Anyonya premasambaddhaṃ tanmukhāmbhoja vikṣaṇam ॥sl. 102॥
Yadi kasyāpi me kāryam pure Rājagṛhe pare ।
Pāṇḍurādikuṭiṃ dṛṣṭvā sa samāgacchatu drutaṃ ॥103॥]

Now a great being falling from heaven (Devaloka) enters the womb of Nandā. Hence she experiences a peculiar craving (*dohada*), viz. that of mounting an elephant, scattering riches among all, and giving them *abhaya* (assurance of fearlessness). Her father fulfils her desire. The child is delivered and in proper time he is named Abhaya, after his mother's *dohada*. This also is what we find in *Nāyā*. The boy grew up and one day asked his mother about his father. She told him every thing and gave him the *abhijñāna* (inscribd tablet), from which he divined that his father was the King of Rājagṛha. He set out for Rājagṛha with his mother in the company of a caravan of merchants in quest of his father,[3] came to the outskirts of the city and recognised the white palace (*ŚK* has : śuklādikuṭikām prāpya tatpītā etc.)

Revolving within himself what he should contrive to see the King he walked on and saw a crowd of people round a dry well. He was told that the person who standing on the margin of the well would be able to lift the King's ring lying inside the well with his own hands would be rewarded. Abhaya undertook the task, and taking a careful look at the ring inside, threw some raw cowdung at it which thereby got stuck in, and when the cowdung dried up, he filled the dry well with water (from some other well), and when the dry cowdung cake with the ring embedded in it floated up to the surface of the well (where he stood on its margin), he took it

3. The story of Abhayakumāra is differently told in the *TT.* (VI Prince Jīvaka, pp. 88 ff) It is related there that Bimbisāra, King of Rājā gṛha, went to Vaisāli, consorted with the famous courtesan Āmrapāli, as a result of which she conceived. Bimbisāra gave her a robe and a ring saying : "But if it be a son, put on him this robe, press the seal of this ring on his neck and send him to me. Āmrapāli later sent the boy with merchants directing them to place him at the gate after having stamped the seal of the ring on his neck She asked the boy to climb up to the King's breast. "Should any one say the boy knows no fear, ask whether a son has anything to fear from his father." The King said that the boy was without fear, so he was named Prince Abhaya.

up in his hands, detatched it and gave it to the King who recognised him for his son. The same incident is found in *Nāyā*. Hariṣeṇa however makes Abhayakumāra *gaddhiṃ̐ā lambiṃ̐ āruḍho* to approach Śreṇika, though substantial agreement is otherwise found.

There is another episode related in the *ŚK* (slokas 138-149) narrating how the wise Abhayakumāra solved the problem of finding the weight of an elephant. He caused the elephant to be placed on a boat in the water (of a tank) by many men, and marked well that the boat (with the load) had sunk to a certain level; the elephant was then taken down and the boat was filled with stones till it sank to that selfsame level. Then the stones were brought down to the earth and were severally weighed; the separate weights were then totalled and yielded so much pala, which indicated the weight of the elephant.

Nāvaṃ hastipramāṇena grāvabhih paripūryya ।
Anuttāryya tatah kṣipraṃ sakalamapi bhūtale ॥148॥
Tulayā tolayitvemān palabhārapramā ṇikam । etc.

This exactly corresponds to the title *Gaya* in the *NSC*.

Let us take another tale from the *BK* :

2. Śrībhūtipurohita-kathānakam (no. 78)

A merchant named Sumitra, hearing the reputation of Śrībhuti as an honest person who kept deposits of valuable gems, jewels etc entrusted to him (maṇiratnāni divyāni bahumūlyāni), went to him and deposited with him some of his jewels on the eve of his departure to Ratnadvīpa for trade. On his return he went to Śrībhūti and demanded the deposit to be returned, but Śrībhūti said : "Piśācena gṛhītah kiṃ yena māṃ tāni yācase ?" Sumitra got distracted, climbed up a tāmarind tree (tintinī vṛkṣa) near the room of Queen Rāmadattā and kept up the cry :

Aho narendra cānyāyastatpure vartate'dhunā ।
Śrībhūtinā gṛhītāni pañcaratnāni sma dhruvaṃ ॥sl. 55॥

One day when the King and Śrībhūti were playing at dice Rāmadattā cleverly asked Śrībhūti for his *sābhijñānāṃ* (sign of identification), and despatched her own servant Buddhimatī to his Brāhmaṇī (wife). Buddhimatī was instructed by Rāmadattā to pretend that she had been sent by Śrībhūti to get the *pañcaratānni*, and satisfied her by giving an account of the *sābhijñānas*, viz (1) he

ate *ghṛtasaṃyukta pāyasaṃ* that day, (2) his *yojñopavīta* was won by the king, and (3) she produced Śrībhūti's signet-ring. Thereupon the Brāhmaṇī delivered the *pañcaratnāni* to Buddhimatī who brought them to Rāmadattā. The king mixed them up with some of his own jewels and invited Sumitra to identify his own jewels, and when the latter recognised and picked out his own jewels, they were returned to him. Śrībhūti was mounted on an ass and banished the realm.

A very close parallel to this we find in the *Mahāpurāṇa* of Puṣpadanta (Saṃdhi LVII) :

There was a King named Siṃhasena in the city of Siṃhapura. His Queen was Rāmadattā. He had two ministers Śrībhūti and Satyaghosha. There was a merchant named Bhadramitra who obtained precious gems in Ratnadvīpa which during his halt at Siṃhapura he deposited with Satyaghosha. After some time Bhadramitra asked for the return of his gems, but Satyaghosha denied all knowledge of the gems even though he was questioned by the King. Bhadramitra then went mad decrying, and climbing up a tree near the King's palace used to cry. Rāmadattā got angry with the minister and planned to play a trick on him. She arranged a game of dice with Satyaghosha, in which he lost his signet ring and sacred thread to the queen. She then sent the ring to the treasurer of the minister through her maid and obtained from him the gems of Bhadra mitra. The King got a few of his gems mixed up with those of Bhadramitra to whom they were shown. Bhadramitra picked up only his gems, saying that others were not his. The King was pleased, made them over to him, and punished the minister, treating him as a thief.

Maṃti nirakku ḍhukku avamānahu
Kaṃsathāli svāvāviu chūnahu ।
Sīsi tīsa kharaṭakkaraghāyahiṃ tāḍiu mallahi
Kuṃciyakāyahim ॥

[The tale has a later version in the story of a Brahman being cheated by a dishonest recluse (Cf. the purohita of *ŚK*) of his purse which he kept in deposit with him, but subsequently recovered through the trick of a dancing girl (Story no. 17 narrated by Rai Saheb Kashi Prasad of State Panna in Khaṭola Bundelī of Bundel-

khand in Vol. IX Pt. I–Western Hindi–of Grierson's *Linguistic Survey of India.*]

The date of the composition of Puṣpadanta's works is A. D. 959-969, and that of Hariṣena's *BK*, A. D. 931-932. One may be tempted to say that Puṣpadanta borrowed the tale from Hariṣeṇa, so close are the similarities. But considering the interval between the two sets of dates to be too short, the distance between the localities of residence of the two authors, the difficulty of communication, the want of opportunity for publicity etc. the theory of borrowing seems to be too presumptuous to be hazarded. The most likely explanation of similarities in the tales is that they are drawn upon from a common source. This story appears under the title *Muddiya* (seal) also in *NSC* of Malayagiri :

In a certain city lived a priest who was renowned everywhere for his honesty, viz that he invariably returned in the same condition even after the lapse of a long time whatever was deposited with him in trust (nikkhepa, Skt. nikṣepa, i. e. nyāsa). Knowing this a certain *dramaka* (poor man) deposited with him his things and went to another country. After a long time he returned and demanded back his property. The priest wholly denied it, and asked him, "Who are you ? What is your deposit like ?" The unfortunate beggar thus balked and not getting back his property became vacant-minded. On his behalf a minister requested the King to ask the priest to return the things to the *dramaka.* The priest prevaricated. However one day while playing with the priest the King cleverly got the signet ring (bearing name) of the priest in exchange of his, and secretly sent some one with it to the priest's wife to tell her : "The priest has sent me to you; here is his seal as credential; please hand over to me quickly the bag containing one thousand pieces of gold pledged to him by the beggar on a certain day, time and place. The priest's wife, seeing her husband's seal, made over the said bag to him. The *dramaka* identified it from among others with which the King caused it to be mixed up. The King restored it to him and cut out the tongue of the priest.

The date of Malayagiri has been suggested by P. K. Gode to be A. D. 1100-1175 (*J. A.* Vol V. p. 136). Yet I can not confidently declare that Malayagiri borrowed from Puṣpadanta or Hariṣeṇa. The

Prākrit titles of the tales in the verses of the Nandīsūtra barely mentioned were enough for the understanding of the hearers, so well acquainted were they with the tales at the time. Thus the tales were very ancient, were widely prevalent, and were found distributed all over India. In later times the allusion to the tales to the popular audience might have become dim and hazy and needed elucidation by commentators, who were more knowing. The descendants of these tales appear in different parts of India in various guises (most of them retaining the substantial core, abridged or embellished) in which the constituent elements and ingredients of tales and motifs appear in countless permutations and combinations to produce a kaleidoscopic effect. They are Jain or Buddhist according as they appear in the literature concerned, and Sindhi, Kashmiri, Gujrati, Marāthi, Oriya, Bengali, Assamese, Deccani, etc. according to territorial, and Santali, Ho, Mikir etc. according to ethnographical distribution.

Concerning the migration of tales from India to foreign countries I am adducing one more tale from the *BK*, viz. Dhanadevādikathānakam (no. 150).

At Ujjayinī in Avantī viṣaya lived the banker Suhasta; his wife was the gaṇikā (courtesan) Vasantatilakā who gave birth to a twin (Yugalaṃ nara-strī)—a boy and a girl. She exposed both of them, thus :

Evaṃ vicintya tāṃ kanyām raktakambalabhūṣitām ।
Nagarī dakṣiṇāśāyāṃ mumoca gaṇikā sakā ॥ Sl 10 ॥
Sutaṃ taṃ jātamātraṃ sā raktakambalaveṣṭitam ।
Nagaryām uttarāśāyāṃ tatyāja karuṇojjhitā ॥ 11 ॥

Suketu, a merchant from Prayāga, chanced to find the girl and gave her to his wife who named her Kamalā. Another merchant from Sāketa named Subhadra picked up the boy, who was named Dhanadeva. When both of them grew up it so chanced that Dhana deva married Kamalā at Ujjayinī and brought her to Sāketa. Once Dhanadeva went to Ujjayinī and consorted with his mother Vasantatilakā, who conceived and gave birth to a boy. Kamalā was apprised of the situation by a *muṇi*. She turned *Kṣullikā* (nun), came to the house of Vasantatilakā and

Tadgṛhe dārakaṃ dṛṣṭvā rudantaṃ paruṣasvanam ।
Paṭhantī Kamalā ślokaṃ cakāraiṣā'sya śāntatāṃ ॥
Putro'si me śiśo nūnaṃ bhrātṛvyo'si sahodarah ।
Tvaṃ devaro'si me vatsa maccittānanda dāyaka ॥
Yaste pitā sa me kānto bāla prāṇāti ballabhah ।
Mā kranda putra mā kranda Kamaleti jagau śiśuṃ ॥

The tale has a close parallel to the story of courtesan Kuberasenā in Hemacandra's *Pariśiṣṭaparvaṇ* (canto II slokas 224-314—see introduction and footnote by Jacobi). Both of these tales had an earlier parallel in a story of the sixth Bhava of Haribhadra's[4] *Samarāniccakahā*.

For a parallel see the tale of Utpalavarṇā in *TT*, which is itself derived from the *Therīgāthā* commy. And it has a parallel to a tale of Ancient Israel.[5]

The Tibetan tale clearly owes its origin to Buddhist source in Pāli and Sanskritic literature. How did it get into the Israel country ? Many old Buddhist religious texts reached Khotān, and neighbouring countries, for which see e. g. Khotanese Aparimitāyuh Sūtra in the *Manuscript Remains of Buddhist Literature in Eastern Turkestan* edited by A. F. Rudolf Hoernle. But probably in later times the tales might have migrated as indicated below.

In an elaborate note given in Appendix I to his "*Ocean of Story*" Vol VIII Mr. N. M. Penzer says about the *Swan-Maiden* motif that "we at once find this in several Persian collections, whence it soon reached Arabia, whence it branched north wards to Turkey and Russia, and westwards to Tunis, Algeria and Morocco, and across the Sahara to the West-African coast, as well as Zanzibar, Zululand and Madagascar. This line of migration is one that we should expect not only because of the early trade relations between East Africa,

4. P. K, Gode thinks the date of Haribhadra to be about A. D. 750. Dr. A. N. Upādhye also places him in A. D 8th century.

The traditional date of the death of Haribhadra is Samvat 585 and Vīra year 1055 corresponding to A D. 528 Prof. Leumann took it to be G. E., ie. A. D 904, which in my opinion is wrong. Hemachandra's date is A. D. 1089-1172.

5. See my article *Some Tales of Ancient Israel, their Originals and Parallels* in IHQ Vol. XIX (Sept. and Dec., 1943) containing *B. Various relations between a woman and her son*, pp. 348-349.

Arabia and India, but also and more especially because of the Mahommedan invasion of India.....starting in the northerly direction we find our motif firmly established in Tibet, among the Tartars, Kalmucks and Mongolians, as well as among such tribes of Northern Siberia as the Samoyeds, Yakuts and Chukchis, who dwell on the Bering strait. A more interesting feature is that at this point the motif crosses the Bering Strait into North America and so on to Greenland.....Setting out eastward we find the motif occuring in stories from Burma, Indo-China, China, Japan and also the Philippines. If we travel in the south-easterly direction we will find it in Sumatra, the Mentawei Islands, Java, Borneo, Celebes, the Moluccas, New Guinea, Micronesia, Melanesia, Polynesia, Australia and New Zealand." Mr. Penzer has given an elaborate list of the published contes, legends, märchen etc. of all these countries with the names of authors. Speaking of the lines of migration which radiate from India he observes : " .....To a large extent they tell us the history of India itself. They tell us of the gradual expansion of Hinduism and Buddhism in the East and South-East, while in the north they exhibit the results of the invasion of Islam. That the great highways both of land and sea would be followed in any migration is natural enough..... ....." If the *Swan Maiden* motif has travelled along the lines of migration radiating from India as indicated above, other *motifs* and tales could have done likewise.

Speaking about the European parallels to stories in the *Kathākośa* Tawney says in the introduction (pp. XVI-XVII) : "It is in my opinion highly probable that the European stories in which the resemblances appear were borrowed from India. Stories actually travelled through Persia to Europe..... But it may reasonably be asked how these Jain stories came to be carried to far distant countries in view of the fact that Jainism has been almost entirely limited to India. The true explanation probably is that these stories were carried abroad not by the Jains, but by the Buddhists, for both Jains and Buddhists used the folklore of Eastern India, for the purpose of religious edification....."

Regarding migration of tales from India I have already expressed my opinion on pages 232-233 of my article *Some Tales of Ancient Israel* referred to above. Inside or outside India they were *par*

excellence Indian tales whatever might be the channels of dissemination.

It is interesting to note that the author of the *Nāyā* was acquainted with foreigners who were made attendants of Meghakumāra during the ceremony of naming (p. 38) along with other Indian servants of tribal origin :

Cilāiyāhim Vāmanivaḍabhi babbarī bausi joniya palhavinaisiniyācāghoruginilāsiya lausiya damili siṃhali ārabi puliṃdi pakkaṇi bahali marumḍi savari pārasihiṃ nānādesihiṃ videsaparimaṃḍiyāhīṃ ..... where we recognise at least the inhabitants of Barbaradeśa (Barbary ?) and Arabia, and Yonas (Greeks), Pahlavas (Parthians), Pārasīkas (Persians) Drāvīdas, Siṃhalese, Pulindas, Śabaras, Muruṇḍas, Kirātas, etc. And this suggests some sort of communication.

Regarding the question how far Hariṣeṇa was indebted to his predecessors, we have to wait till some work of some author, of nearly the same size as his, is discovered which may confidently be said to be his immediate inspirer. He has utilised the stories in the Jaina canonical texts such as the Nāyā, Nandīsūtra, etc. and some other familiar prevalent legends, but for that reason he cannot be called a borrower in proper sense.

SYADVĀDA—AN EPISTEMOLOGICAL SOLUTION OF WORLD-TENSION.

By
Prof. Ram Jee Singh M. A.

Continued from Page 32, Volume XIX. No. 2.

Syadvada and Nayavada :—

Broadly, knowledge according to the Jaina is of two kinds—Pramāṇa and Naya; knowledge of a thing in itself and knowledge of a thing in its relation.[1] A Naya is a standpoint from which we make a statement about a thing.[2] A thing conceived from one particular point of view is the object of Naya or one sided knowledge.[3] In Saptbhangi Naya, where we find pluralistic doctrine of the Jaina Dialectics, Muni Jin Vijoya says that the doctrine points to the relativity of knowledge concerning all the objects of the world.[4] Champat Rai Jain describes Naya as a Path or way which implies in conection with philosophy, the method of accurate thinking, hence he calls Naya as the "Science of thought"[5] In Nyaya Karnika's introduction Mohan Lall Desai holds that Nyaya Vidya or Philosophy of Standpoints is an essential department of knowledge by itself, and bears the same relation to philosophy as logic does to thought or grammer to language or speech.[6] Nathmal Tatia calls Naya-ways of approach and observation.[7] Broadly Nyayas are divided

1 Umāswāti—Tattvarthdhigamsutra—प्रमाणनयैरधिगमः – ६।१

2 Radhakrishnan—History of Indian Philosophy—Vol I. P 298

3(a) Nyāyāvatār—Eng. Tr. S.C. Vidya Bhusan—Slok—29

(b) न्यायदीपिका–Page 125 प्रमाणागृहीतार्थैक देशग्राही प्रमातुरभिप्राय विशेषः—

(c) लघीय स्त्रय–४२ नयोज्ञातुरभिप्रायः ।

(d) स्याद्वादमंजरी–श्लोक २८

(e) परीक्षामुखम्–स्याद्वादप्रविभक्तार्थे, विशेषव्यंजकोनयः—XIX

(f) आप्तमीमांसा—१०६

4 The Saptvangi Naya—Kannomal Jain–Introduction.

5 Nayaya—The Science of Thought. C. R. Jain–Ch. I.

6 Nyaya Karnika—Eng Tr. Mohan Lall

7 Nathmal Tatia—Article in Proceedings of Indian Philosophical Congress Mysore. 1952.

into Noumenal and Phenomenal, each further divided into ten and six sub-classes respectively.[1] Accordiug to more populer scheme, the Nayas are seven, placed under two broad classes of Arthanaya and Sabdnaya, as they refer to object and meaning [2] So these seven Nayas may be in short called the heptagonic forms of our outological enquiry[3] or one-sided method of comprehension of seven kinds."[4] In fact there may be as many kinds of Nyaya as there are modes of speech.[5]

Full knowledge of all characters even of a particle of dust cannot be claimed by anyone of us, because of our limitation and bias for a particular angle of vision.[6] Truth is relative to our standpoint. We cannot affirm or deny anything absolutely of any object owing to the endless complexity of things. Being is not of a persistent unalterable nature. Every statement of a thing is necessarily one sided and incomplete.[7] A thing may be true or untrue or partake of both while being neither.[8] The ordinary human being cannot rise above the limitations of his senses; so his apprehension of reality is partial and valid only from a particular point of view. Thus Nayavada is an unique instrument of analysis.[9]

Seven Nayas and their Fallacies:—

Naigam Nayas or non-distinguished regards object as possessing both the general and the specific properties, because no one can live

---

1(a) Nahar & Ghosh—An Epitome of Jainism Ch III Jaina Logic of Nyaya

(b) एव नयोद्विविधो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेयति । जैन दर्शन ४२ ।

(c) द्रव्यार्थिकनयः पर्यायार्थिकनयश्चेति । न्यायदीपिका १२५ ।

(d) नयोद्विविधः-सर्वार्थसिद्धि १-६

(e) द्रव्य पर्यायगोचरै-तन्वार्थ श्लोक पृ०-२६२

2 Radha Krishnan—Hist. of Indian Philosophy. Vol I—299

3 Epitome of Jainism Ch: III

4 Nyāyāvatār—Sl. 29

5 Syādvād Manjari—जवइआ वचणपहा तावइआ चेवहुति नयवाची

6 Nath Mal Tatia—Nayas etc. Page 192

7 Encyclopedia Britanica—Vol 12 Page 867 14th. Ed.

8 Encyclo. of Religion & Ethics—Vol I Page 262 Ed. by Hoerunle

9 A. N. Upadhye-Silver Jubliee Vol I Jainism (Article) Page 134

without the other;[1] all objects possess two kinds of properties Samanya and Visesha.[2] So this way of pantascopic observation[3] criticises the one sided and wrong view of Nyaya-Vaishesika realism according to which Samanya and Vishesha have seperate existences from the object. Thus there is the synthesis of long drawn conflict between the universal and the particular.[4] Hence Nyaya-vaishesika is accused of an abstractionist outlook technically called the Fallacy Naigamāvāsa. (नैगमाभास).[5]

Nextly, Sangraha Naya (संग्रहनय) remedies the extremism of universal and particular. In fact there can be no universal apart from the particular and vise versa.[6] For example, not a single nimb or mango or any other tree can be conceived apart from vegetableness, so finger cannot be considered apart from hands.[7] So Adwatins and Sankhyas,[8] Plato and Kant etc are accused of the Fallacy of Sangrahāvās[9] or who recognise universal alone as real.

An extremist assertion is likely to be met with a diametrically opposite view of analytic and particularistic approach where we will meet the charvākas to whom object possess only the specific properties which is non-existent like donkey's horn. So this practical and particularistic view is to meet with the fallacy of wrong selection of species called Vyavhārāvāsa (व्यवहाराभास), where one eats vege-

---

१(क) नय कर्णिकाः—श्लोक ५ नैगमोमन्यते वस्तु तदेतदुभयात्मकम् । निर्विशेष न सामान्यं विशेषोऽपि तद्विना ।

(ख) न+एक+गम=Not +one+aspect.

२ अर्थाः सर्वेऽपि सामान्य विशेषाउभयात्मकाः—नय कर्णिका श्लोक २

3 Nath Mal Tatia—Ibid

४(क) नय कर्णिका-Sloke 10

(ख) जैन दर्शनसार-Page 42

(ग) परीक्षा मुखम् ch. iv. Sl. 1 सामान्य विशेषात्मातदर्थो विषयः

5 Naya Karnika—Introduction

६ संग्रही मन्यते वस्तु सामान्यात्मकमेवहि
सामान्य व्यतिरिक्तोऽस्ति न विशेषः खपुष्पवत् Sl. 6 नय कर्णिका ।

७ विना वनस्पति कोऽपि वृक्षादिर्न दृश्यते etc-Sloke 7

८ न्यायावतार-Sl. 8 विशेषात्मकमेवार्थं व्यवहारश्च मन्यते विशेषभिन्नं सामान्यम सत्खरविषाणात् ॥

9 Naya Karnika—Introduction by Mohan Lall D. Desai

table without being it of any kind, mango [1] etc.

The particularistic approach sometimes forgets the past or the future aspect of a thing and confines only to the present, straightaway refering to the natural thing.[2] To them past is defunct and the future is unborn.[3] The reality is momentary being, a great flux. These are Buddhist and the Heraclitus, who must be charged with the fallacy of straight and direct glimpse, devoid of temporal determinations or कालिकनिक्षेप.[4] This fallacy is called ऋजुसूत्राभास.

But as the real is expressed and characterised by a word who must also examine the meanings of word. So comes Sabda Naya or verbal standpoint. Each name has it own meaning[5] and different words or (Synonyms)[6] may also refer to the same object. So the relation between terms and meaning is relative one, and when we take them to be absolute we commit the fallacy of Sabdāvāsa,[7] which we find among the nominalist and the grammarians.[8]

So Sambhirudh Naya or Etymological aspect distinguish terms according to their roots.[9] With the difference of the words expressing the same object the significance of the object also differs as ghat (घट) is, which makes noise like ghat, ghat (घट घट) and so on.[10] So the identification of reality with the root of the word by which it is denoted is the fallacy of Sambhinrudhāvāsa,[11] again committed by grammarians.[12]

---

१ नयकर्णिका–Sl. 9. वनस्पतिगृहाणेति प्रोक्ते गृहणतिकोऽपि किम्–९

२ नयकर्णिका–Sl. 11, 12, ऋजुसूत्रनयो वस्तुनातीतं नाप्य नागतम्–११
अतीते नानागतेन परकीयेन वस्तुना–१२

३ Nath Mal Tatia—Page 195.

४ नयकर्णिका–Sl. 12.; न्यायदीपिका–परोक्ष प्रकाश page–85

५ Radhakrishan—H. I. P. Vol —I.

६ नयकर्णिका–अर्थं शब्दनयोऽनेकैः पर्यायैरेकमेवच
मन्यते कुंभकलशघटाघेकार्थं वाचका Sl. 14.

७ नयकर्णिका–Introduction.

८ न्यायावतार–Sl. 19. Explanations—अनेकान्तात्मकं वस्तुगोचर ·····२९

9 Radhakrishnan—H. I. P. 300 Vol. I

१० नयकर्णिका—Sl. 15. ब्रूते समभिरुढोऽर्थं भिन्न पर्यायभेदतः
भिन्नार्थाः कुत्र कलशघटावटपटादिवत्–१५

११ नयकर्णिका—Introduction

12 Nyāyāvatār—Slok—29

The grammarians reach the climax when they identify reality with such like[1] or specialised form of sixth kind[2] for it argues that if a thing is really recognised, even when it do not fulfil its function, then why can cloth be not called a yarn ?[3] If we go against it, we commit the fallacy of Evambhutāvāsa.

Doctrine of Saptbhangi :—

Now the Jainas claim to embody all these seven aspects in their philosophy,[4] hence treat it like a judge over all systems of philosophy which are seperately one-sided. So this is the doctrine of liberal pluralism as contrasted with dogmatic monism. To a realist pot exist as it is, independent of the mind, to an idealist. pot has no existence in the world outside. To a nominalist the pot is a sign in the outward world which calls up it image in the mind, to a Buddhist pot is nothing but a continuous stream of changes. So also to Bergson it is a great flux. Perceptionist regard the pot only as a bundle of qualities without any substratum containing them. But to a Spencerian Positivist pot is a vivid idea the causes of which are unknowable. However to the Vedantins pot is a figment of illusion, a thing of nescience. All these philosophers look at the pot more or less from one dominating point of view, while neglecting the other.[5] The Jain logicians welcome all the light that comes from different ways of approach and integrates them in one whole in which all these finite traits can co-subsist.[6] All philosophical disputes

---

१ नयकर्णिका—Slok-17. एक पर्यायाभिधेयमपि वस्तु च मन्यते
कार्यं स्वकीयं कुर्वाणमेवं भूतनयो ध्रुवम् १७

2 Radhakrishna—H. I. P. Vol. I Page 300.

३ नयकर्णिका—Slok-18
यदि कार्यमकुर्वाणोऽपीष्यते तत्तया सचेत्
तदा पदेऽपि न घट व्यपदेशः किमिष्यते—१८

४ नयकर्णिका—सर्वे नया अपि विरोध भृतो मिथस्ते
सभ्यम साधूनामयं भगवान भजन्ते ।
भूपा इव प्रति महाभुवि सार्वभौम
पादाम्बुजं प्रधान्युक्ति पराजिता प्राक्—२२

5 Saptbhangi Naya—Kannomal Jain.

6 Nath Mal Tatia—198.

arise out of a confusion of standpoints.[1] Even in practical life we find that a man is father in relation to a particular boy, in relation to another boy he is not father, in relation to both the boys taken together he is the father and is not the father, and since both the ideas cannot be conveyed in words at the same time, he may be called indescribable.[2] Considering all these standpoints, a marvellous mechanism of Syādvāda or Saptbhangi has been worked out which is an unique organon of knowledge to grasp the manifoldness of reality. When the reality is dynamic and truth is manifold, our task of knowing the truth becomes difficult for there is nothing certain on account of endless complexities of things,[3] and hence the expression af truth must be equally difficult if not more, for the words fail to describe the different characters of a thing at the same time.[4] So the speaker does describe one character which is prominent than the other characters in that object. Therefore, we have no right to make any absolute judgment. Every proposition gives us only a perhaps, a may be or a Syat[5] Absolute affirmation or negation of any object is therefore unreasonable. All propositions are only hypothetically true. Hence unlike ordinary logic Syādvāda recognizes conditional predication, which is expressed by the prefix Syat. Logic of Syādvāda differs from ordinary logic in the fact that instead of two kinds of judgment as affirmative and negative it recognises as many as seven forms of Judgment. So Syādvāda is also called Saptbhangi.[6]

Syadvada-as a Doctrine of Seven Forms of Judgment :—

So far prefix Syat is concerned, we must use, because any substance is unity-in-diversity, so if we insist on absolute predication without condition, the only course open is to dismiss either the

1. Radhakrishnan—H. I. P. Vol. I—302.
2. Hira Lall Jain—Jainism, its History, Philosophy and Religion. From Ramkrishna Centenary Volume I.
3. Radhakrishnan—H. I. P. 302.
4. Kailash Chandra Sidhānta Shāstri—Saptbhangi and Syādvād Premi Abhinandan Granth Page 324.
5. Radhakrishnan—H. I. P. Vol. I—Page 302.
6. सप्तभिः प्रकारै र्वचनविन्यासः सप्तभंगीति गीयते-स्याद्वादमंजरी Page 278

diversity or the identity as a mere mataphysical fiction.[1] So Anekāntvāda teaches that every single statement may have a partial truth,[2] hence even lord Mahavira, the Omnisient took recourse to a Syat[3] before every sermonic sentence, so much so the scriptural knowledge of the Jainas has been called as Syādvāda by Samantvadra.[4] Even Dr. Hermon Jacobi calls Syādvāda a Synonym of Jainism.[5]

Now, the seven forms of Saptbhangi Syādvāda are predicative judgment regarding the same object according to the point of view of speech. As different aspect of reality can be considered from four different perspectives (Nikshep or Nyas) such as name, representation, privation and present condition[6], similarly seven modes of speech can be considered from four different points of view of its own matter, time, place and nature as well as from other point of view.[7]

Now a thing exists[8] as itself under certain circumstances from the point of its own material, place, time and nature. This table exist as made of wood in this hall at the present moment with such and such shape and size, but this does not exist as made of gold, at another place or at another time of a different shape. So the table exist some how i.e. not always, everywhere, in every shape. Hence let us say somehow the table exists or simply स्यादऽस्ति । Similarly, somehow the table does not exist, when considered from its other point of view. So existence and non-existence are to be asserted accordingly as the element of one or the other is in predominance. Things are considered in relation to their importance and not.[9] Hence Syād Nāsti.

---

1 Appaswami Chakravarti—Ram Krishna Centenary Vol. I.

2 Do. Do. Do.

३ स्याद्वाद और सप्तभंगी–लेखक–कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री–प्रेमी अभिनंदन ग्रन्थ ३३८

४ आप्तमीमांसा—स्याद्वादकेवलज्ञानेवस्तुतत्त्वप्रकाशने—

5 H. Jacobi—Ency, Religion and Ethics Vol 7 Page 465.

६ नाम स्थापनाद्रव्य भावस्तन्न्यासः—१-५–तत्त्वार्थ सूत्र

७ स्वद्रव्य, स्वकाल, स्वक्षेत्र, स्वरूप—परद्रव्य, परकाल, परक्षेत्र, पररूप

8 Radhakrishnan Vol. I Page 302.

9 Umaswati—अर्पितानर्पितासिद्धेः—

But when can the table exist as well as not exist ? Yes the table can exist for me in certain form, place etc, and does not exist in other form, place etc. So we may say that the table somehow exists and not exists. स्याद् अस्तिच नास्तिच.

But what will we say when we are asked what is the real colour of this table always ? The only honest reply would be that the table cannot be described under conditions of the question.[1] Hence Syād Avyaktam. This seems to be something puzzling yet profound. Shankar in his Braham Sutra 2-2-33[2] charges the Jainas of contradiction. If reality is indiscribable it cannot be expressed To call something indescribable and again indulging in its verbal description are contradictory things. Some how Sankar forget that it is not called simply "indescribable" but "somehow indescribable" which means that the thing is not indescribable absolutely but only hypothetically. Therefore Dr. Ganga Nath Jha[3] charges Shankar for not going through the Jaina text. Fani Bhusan Adhikari also for the same, charged Shankar of injustice while presiding over the annual function of Syādvāda Mahāvidyālaya.[4] This fourth character of indescribability point out that it is impossible to describe a thing without making any particular standpoint.[5] Again, philosophical wisdom does not always lie in straight forward affirmative or negative answers. Some times the nature of things are such that they render any description impossible.

The other three of the Saptvangi are found by combining one by one each of the first three standpoints with the fourth, such as Syat Asti ch Avayaktam; Syat Nasti ch Avayaktam and Syat Asti Nasti ch Avayaktam. So from Scienitific standpoint of combination, no other form is possible.[6]

---

1. D. M. Dutta—Indian Philosophy Page 95.
2. Brahma Suttra—2-2-3.
   मचेवं पदार्थानामवक्तव्यत्वं संभवति अव्यक्तव्यश्चेन्नोचेरन् ।
   उच्चन्ते यावक्तव्याश्चेति विप्रति विद्धिम्—ब्र० सू० २-२-३३
3. Dr. G N Jha—' Jain Dharm" by Kailash Chandra Jain Page 74
4. Fani Bhusan—Ex. Hd. of Dept. of Philosophy of B. H. U. Page 74 (Ibid).
5. D. M. Datta—Page 96 Indian Philosophy.
6. Nahar and Ghosh—Epitome of Jainism Ch. VII, VIII.

Naya is the analytic and the Saptbhangi is the synthetic method of studying ontological problems.[1] So the defect of Nayavāda is supplemented of the method of Saptbhangi, a better organon of knowledge.[2] Samantvadra, the first exponent of Syādvāda[3] has characterised Sānkhya, Mādhyamika, Vaisesika Baudha as representing first four forms of judgment and Aklank[4] has completed by characterising Shankar, Baudha and Yoga as representing the last three. This doctrine insists on the co-relation of affirmation and negation. All judgments are double-edged in their character. All things are existent as well as non-existent.[5] Here three predicates make seven propositions.[6]

Examination of Criticisms against Syadvada :—

(1) *Fallacy of contradiction*—Application of existence and non-existence to the same thing is contradiction.

Reply :—Here existence and non-existence are asserted not from one standpoint. Calling a thing both table and bench is contradiction but when we ascribe to the table from the view point of it matter and non-existence to it from the view point of it changing frame, it is not contradiction.

(2) *Fallacy of Vaidhikaran*—There ought to be two receptacles for we assume existence and non-existence in the same thing.

Reply :—Tree is only one receptacle though it contains both the qualities of stability and mobility.

(3) *Fallacy of Anavasthā* :—Statement after statement is made without observing any established rule regarding the finality of things.

Reply :—Things having innumerable characteristics need innumerable predication, hence no fallacy of infinite regress.

(4) *Fallacy of Confusion* संकर :—Many confusing things are said of the same object.

---

1. Nahar and Ghosh—Epitome of Jainism Ch VII, VIII.
२ आप्तमीमांसा कारिका–९-२०
३ अष्टसहस्री—पृ० १३८-१४२
4. Radhakrishnan H. I. P. Vol. I—304.
5. Jacobi—Ency of Religion and Ethics Vol. 7-465.
६ नैकस्मिन्नसंभवात्—२-५-३३ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य ।

Reply :—What we say of it are actual.

(5) *Fallacy of Vaitikar* (Intermingling of Qualities) we maintain both existent and non-existent in regard to a thing.

Reply : —Existence is predicated from material standpoint, non-existence from phenomenal standpoint.

(6) *Fallacy of Doubt* :—Cannot arise because we are definite from particular standpoint.

Where there is doubt, lack of understanding (Artha patti) cannot arise, hence no negationism (Abhāva) and no fraudism (chal), which also go contrary to its extreme realism.

Vyās and Shankarāchārya have also brought in their heavy artilleries to damage one or the other angles of this fortification and force an entrance into the same. Their charges are of contradictionism,[1] indeterminism[2], doubt[3], uncertainty[4], ridiculous.—Self-contradiction, abandoning original position in describing the Avayaktam[6] which are all treated above and elsewhere[7] in this paper.

Besides, contemporary thinkers confuse the pragmatic[8] and pluralistic but realistic attitude of Syādvāda with the same pragmatic and pluralistic but idealistic views of Messers William James, Schiller, Dewey etc. One should remember that even Jaina metaphysics accept Vedic realism and even in the Upanisads[9] we have pluralistic trends. In the Upanisads also we have the glimpses of how the reality reveals itself in different ways at different stages of know-

---

1. नैक स्मिन्न संभवात्—२-५ ३३. Brahma Suttra—Sankar-Bhasya.
2. Knowledge would be of indeterminate character as doubt or diffidence.
3. The knowledge,—the knowabilities, the knowing subject all being indeterminate in themselves, Syādvād cannot be a source of valid knowledge.
4. Heaven and freedom both are uncertain
5. Ridiculous Self-contradiction.
6. Epitome of Jainism ch. IX Shankar and Syādvāda.
7. Sir Asutosh Com. vol. III. Art on Jainism.
8. D. M. Datta—Page 97 (Indian Philosophy).

९(a) माडूक्योपनिषद्—४-२३—अस्तिनादित्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वायुनः
चलस्थिरो भयामवैशवृणोव्येव वालिशः—४-३३

(b) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—Ri. Veda. I–Mandal.

(c) त्वं भक्तियोग परिभावित—श्रीमद्भागवत् ।

(d) यज्ञहू विष्णो —शतपथ ब्राह्मण

ledge.[1] However Syādvāda is probably due to the Jainas[2] and so it cannot be traced to the Vedas and Upanisads though the Jainas believe that their fundamental creed can be traced back even before the Veda.[3]

Then another case of confusion is in comparing[4] Syadvada with the subjectivistic relativism of the Sophist, with the objective Relativism or Relative Absolutism[5] like White-head, Bodin. However there is no similarity with Eiestien's relativity except in the most general attitude. To some extent we may find its parallel in old Pyrrohoneanism in the west. The Upanisadic Neti, Neti, the Adwait doctrine of the world as Anirvācya, the yoga doctrine of Pradhāna as Nihsattvāka-nirasat-Nihsadsat and the Sunyavadin's doctrine of the self or the ultimate reality as Catuskotivinirmukta may also be profitably compared. Even on deeper study, we may find something in Kant's thing-in-itself and modern Existentialism including Kirkegaard in this connection. But Pyrroh's prefixing every judgment with a "may be" must not be thought identical with Jaina Syat, for Pyrrohoneanism relapses into agnosticism or Scepticism, there is no room for Scepticism whatsover in Jaina theory of Syādvād.

Syadvād does not lead to Scepticism. Scepticism means in the minimum, absence of assertion, where as Syādvadins always *assert*, though what they assert are alternatives. Disjuctive judgment is still judgment, ie. assertion. Many logicians believe that what a disjuctive assert is only the common character of the alternatives, the play with the alternatives being either intellectal experimentation or hesitation as a function of ignorance. Some Hegelians interpret it in terms of identity in-difference. Syādvad on the other hand just insists that there need be no element of identity, abstract or concrete. There is no reason why one blind man should reject the vision of another. Hence each vision is alternatively valid. So either there is no self complete Reality or any such Reality is wholly infinite, a mere demand that refuses to be actualised. The only Scepticism

1. Radhakrishnan—H. I. P. Vol. I Page 299.
2. Kalidas Bhattacharya—His letter to me.
3. Sir Asutosh Com. volume III. Article of Dr. P. C. Bagchi.
4. D. M Datta—Indian Philosophy.
5. K. Bhattacharya—His letter to me.

that there is concerning the so called self-complete Reality. So where as a Sceptic is Sceptical about any character of Reality, Syādvād is quite definitely assertive in so far asti, nasti etc are concerned. Yet he is more Sceptical than any Sceptic in the world so far as the difiniteness of the ultimate Reality is concerned. He would go even beyond avaktarya (adwaitin so far the world is concerned and Sunga vadin so far ultimate reality is concerned—Kalidas Bhattacharya's letter to me). So at best Syādvāda is a form of Relative Absolutism, or objectiver elativism* but never Scepticism.

So Syādvāda stands against all mental absolutism. We can substantiate this relativistic standpoint on the Cosmo-micro-physical ground supported by Einstienian Doctrine of Relativity[1] and Maxwell's equation of electromagnetism which go fundamentally against the notion of absolute truth. When we say, we *know* this, I am saying more than is strictly correct, because all we know is what happens when the waves reach our bodies [2]

Similarly, researches in Psychology of thinking[3], Perception of self and conception of self in child Psychology[4] and Psychoanlytical studies in Freudian Narcissism or Adlerian Power factor[5] support relativism. The psychological researches into the nature of emotions was substantiated by the writing of Dostoevski, Kirkegaard, Neitzche, Freud, Jung and others who tried to reveal the force of conscious and subsconscious feelings on the function of character and life. James uttered a definite activistic voluntaristic note in his Radical Empiricism. Graham wallas showed how political aspect were dictated by emotional attachment to Party Shibboleths [6] Mc Dougall attacked the transcendent dextalism of the German idealestic rationalism as well as the sociological hedonism and the epicurean rationlism of the

* D. M. Datta—Indian Philosophy.

1. Encyclopaedia Britanica—Vol—19 Page—89. Article on "Relativity" by Sir James Hopwood Jeans. Article on Philosophical Consequences of Relativity by B. Russell.

2. B. Russell—Outlines of Philosophy—Ch. on Relativity, 137.

3. (1) Psychology of Thought—Two vols. Brand Shard.
(2) Creative Thinking—Warthi mer.
(3) Psychology of thinking—Dunlop; Humphry.

4. Pia get—Work on Child Psychology.

5. Dr Mohsin—Oral discussion on this subject on 27-12-53.

6. Dr. V. P. Verma—Rationalism, 19-20.

classical economist and the Benthamite liberals Thus relativism in Psychology is a truism.[7]

Again from socio-cultural standpoint, the doctrine of Syādvāda is justified for no smooth functioning of society is possible without mutual accomodation and adjustment which presupposes catholicism in thought, and sense of tolerance. In ethics and morality, we know how far relativism is dominating.

In Logic the Doctrine of the Universe of Discourse has a great justification for Syādvāda. Universe of Discourse is sometimes limited to a small portion of the actual universe of things and is sometimes co-extensive with that Universe.[1] "The particular aspect or portion of the total system of reality refered to in any judgment may be convinently spoken as the Universe of Discouse.[2] Hence Carveth Read says that supposition (or Universe of Discourse) controls the interpretation of everyword.[3] Logic of Relatives[4] too recognises the truth of Syādvād when it discusses all relations embodied in propositions.

So Syādvāda holds a position of liberal pluralism as contrasted with dogmatic merism.[5] Much of the confusion either of Buddhism or Vedantism is due to the false exaggeration of the relative principles of[6] becoming and being into absolute truths. Same is the case with Parmenidian being and Heraclitan flux. It seems that Syādvāda doctrine has been given to the world after carefully shifting out the truths of a vanity of Philosophical doctrines. It does not originate as some seem to think from a vague indefinite and doubtful mental attitude in regard to things. It gives a practically definite knowledge. Syādvād is never a doctrine of doubt.[7] Manysidedness of the Jaina is the true secret of it irreputable perfection. Nayavada is the touch stone of the dogmatic pronouncement of all one-sided scriptures.[8] It

7. Dr. Mohsin—Oral Discussion on 27-12-53.
1. Boole—Laws of thought Page—166.
2. Keynes—Formal Logic—75-76.
3. Carveth Read—Logic—
4. A. C. Mitra—Deductive Logic Page—198-200.
5. Kanaomal—"The Saptbhangi."
6. Radhakrishnan—H. I. P.
7. Prof. A. S. Dhurwa—Syadvad Maryar
8. नयकर्णिका—Mohan Lall D. Desai. Introduction.

is the method of knowing a thing synthetically. Thus the Philosophy of Anekāntvāda is neither self-contradictory nor vague or indefinite, on the contrary it represent a very sensible view of things in a systematised form. By means of it the seemingly warring ideas and beliefs of different faiths can very well be accomodated and reconciled to each other and then so many clashes would be avoided.

Syadvada And World Tension :—

Peace is something which the world eagerly wants but which it does not know to secure[1] Peace needs a new civilisation a new culture a new philosophy, where there is no narrowness and no partiality. Huxley is correct to a great extent when he says that war exist because people wish it to exist.[2] We cannot check violence by remaining violent. But non-violence must preceed non-violence in thought. And here Syādvāda give us help to practice non-violence in thought. Prof. R. Prasad also holds that Syādvād is an extension of Ahimsā in epistemology.[3] Unless we resolve our differences, we are bound to face tension. Analysing the ultimate causes of world tension, we had come to the conclusion that it is ultimately our divergent and conflicting idologies that come in the way. Politico-socio-economic ideas are interrelated and all of them have definite ideological standpoint. The world is the store-house of great chaos in thought. All the confusion of thought which is prevailing in the world is the outcome of inexhaustive research and the acceptance of a part for the whole. All most all our disputes only betray the pig headedness of the blind men[4] who spoke differently about an elephant. The outstanding personalities (like Aurobindo, Raman Maharshi etc) spoke to us, in a world over organised by ideological fanaticism, that truth is not exclusive or sectarian. In fact, the spirit of India is a foe to every kind of fanaticism and intellectual narrowness.[5] Huxley askes us to persuade people that every idol however noble it may seem, is ultimately a. Moloch that

1. E Ashirvalham—Is Peace Possible ? Journ. Pol. Sc.
2. Aldous Huxley—"Ends of Means" Page—94.
3. Prof R Prasad—Oral discussion.
4. नयकर्णिका—Introduction by Mohan Lall D. Desai.
5. Radhakrishnan—Presidential Address to the Silver Jubilee Session of Indian Philosophical Congress held at Calcutta.

devours it worshippers. In other words, it is fatal to treat the relative and the home made as though it were the Absolute.[1]

Dr. Schillip also observes that humanity is tottering to day on the brink of the principle of self-annihilation for lack of understanding.[2] It is at the levels of human relationships that we reach the acme of misunderstanding.[3] Prof. Tatia also holds that only intellectual clarity will resolve all conflict and rivalary.[4] All dogmatism owes it genesis to this partiality of outlook and fondness for a line of thinking to which a person has accustomed himself.[5] In his message to the Silver Jubilee Session of Indian Philosophical Congress, C. P. Ramaswamy also observes that "work and sacrifice (for peace) can only he on the lines of an abandonment of the so called imperialism and aggresiveness in thought[6], because peace demands a revolutionary desire, a new simplicity, a new asceticism[7] Blavatsky thinks that when the one party or another thinks himself the sole possessor of absolute truth, it becomes only natural that he should think his neighbours absolutely in the clutches of Error or the Devil.[8] These are obvious psychological roots of tensions[9] proved by recent Psychological researches.[10] To day one man or one country fight with the other because their views vary. Views are bound to differ, because we are guided by different condition, thought, modes and attitudes. Hence it is wrong to think oneself right and rest others wrong.[11] Here we find that Syadvad represents the highest form of catholicism

---

1. Aldous Huxley—In his message to the Silver Jubilee Session of Indian Philosophical Congress.
2. Paul Arthur Schillip—On Human Uunderstanding-Silver Jubilee vol. II.
3. Ibid.
4. Nath Mal Tatia—Naya ways of Observation? Approach—198.
5. Ibid.
6. C. P. Ramswamy Ayer—Silver Jubilee vol. II Message.
7. Radhakrishna—Quoted by Ramasury—Ibid.
8. H. P. Blavatsky—The Secret Doctrine
9. Alva Mydral—Gandhian Seminar.
10. (1) Tension Affecting International Understanding—by Klinberg
    (2) Tensions that cause war—Can tril
    (3) Democray in a world of Tensions—Make on.
    (4) Ends and Means—Huxley, (war).
11. Nemichandra Shastri "विश्वशांति और जैन धर्म"।

coupled wonderfully with extreme conservatism, a most genuine and yet highly dignified compromise, better than which I cannot imagine.[1] Extreme toleration is that all views as possibilities are equally (alternatively) valid, and extreme conservatism, in that from the point of actuality (or existence, as the Existentialist term it) only one of the definite catgories is *mine* I cannot always fly in the air of possibilities (or demands) I must have moorings in some one definite form of actuality.[2]

1. Kalidas Bhattacharya,—His letter to me.
2. Do. Do.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं। मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

PRINTED AT SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH